प्रकाशक
जिनेन्द्र कुमार भमत

धनवन्तरि दिवस १९६८

मूल्य ६ रुपये मात्र

प्राप्ति स्थान—
भक्तवत्सल प्रकाशन मंदिर
बख्शी भवन
आंकड़ों का रास्ता
जयपुर—1

मुद्रक:—
रवि मुद्रक एवं प्रकाशक सहकारी समिति लिमिटेड
फिल्म कॉलोनी नेहरु बाजार
जयपुर—३

शुभ सम्मति

(१)

श्री ध्यानी जी द्वारा रचित "आयुर्वेदीय संक्षिप्त निदान चिकित्सा" ग्रन्थ का इतस्ततः अवलोकन किया गया। प्रचलित पाकेट बुक प्रकाशन परम्परा के निर्वाहण के उद्देश्य की पूर्ति इस रचना द्वारा की गई। रोगों के निदान और चिकित्सा के क्रिया-सूत्रों का सरल हिन्दी भाषा में निरूपण कर सुबोधगम्य बनाने के प्रयत्न में लेखक सफल हुए है। छात्रों के लिए यह पुस्तक संग्रहणीय है।

जनसाधारण भी इससे लाभान्वित होगा ऐसी मेरी मान्यता है।

वैद्यरत्न श्री जयरामदास स्वामी भिषगाचार्य

अध्यक्ष

आयुर्वेदमार्तण्ड श्री स्वामी लक्ष्मीराम चिकित्सालय, जयपुर

(२)

मुझको यह लिखते हुवे प्रसन्नता है कि वैद्य श्री शिवचरण जी ध्यानी द्वारा रचित आयुर्वेद संक्षिप्त निदान चिकित्सा पुस्तक जन साधारण तथा आयुर्वेदीय छात्रों के लिये उपयोगी है। इस पुस्तक में स्रोतों के आधार पर रोगों का वर्गीकरण एवं निदान तथा चिकित्सा का सरल भाषा में व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक ढंग से विवेचन किया गया है। इस दिशा में लेखक का प्रयास सराहनीय है।

वैद्य श्री मोहनलाल भार्गव

प्रधानाचार्य

राजकीय आयुर्वेदिक महाविद्यालय, जयपुर

गुजरात में अभिनव संस्थापित आयुर्वेद विश्वविद्यालय के अन्तर्गत संचालित श्री गुलाब कुंवरबा आयुर्वेद सोसाइटी के महाविद्यालय, जाम नगर में अध्यापन कार्य सम्पन्न करते हुए श्रीयुत वद्यवर शिवचरण जी ध्यानी महोदय ने छात्रों के उपकारार्थ संक्षिप्त रूप में राष्ट्र भाषा हिन्दी में आयुर्वेदीय निदान चिकित्सा के लेखन एवं संकलन का अतीव प्रशंसनीय प्रयास किया है। लेखन शैली विशद और सरल है। आयुर्वेद के विद्यार्थियो को स्रोतोमय शरीर में उत्पन्न व्याधियों को प्राणवहादिस्रोतों के अनुक्रम से समझाने का का यह सव प्रथम और सुगम रूप है। मैं इस संक्षिप्त रचना का अधिकाधिक प्रचार चाहता हूँ। ताकि, आयुर्वेद का वास्तविक स्वरूप जनता जनार्दन की सेवा के लिये पुनः स्थापित किया जा सके। भगवान् धन्वन्तरि लेखक की अभिलाषा पूर्ण करेंगे।

वैद्यरत्न श्री प्रभुदत्त शर्मा
प्रधानाचार्य
श्री मदनमोहन मालवीय राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय, उदयपुर
कन्वीनर वोर्ड ऑफ स्टडीज इन आयुर्वेद,
राजस्थान विश्व-विद्यालय जयपुर

प्रारम्भिक

आयुर्वेद के आठ अंगों में से निदान–चिकित्सा का महत्व आज भी सबको स्वीकार है। आयुर्वेद के आचार्यों की प्रारम्भिक विचार धारा 'विकृति से प्रकृति की ओर' रही है। अतएव स्रोतसों, अवयवों एवं कोष्ठांगों आदि के विकृत कार्यो को रुग्णशय्या प्रवचनों द्वारा छात्रों को स्पष्टतः दिखा कर एवं समझा कर उनके प्राकृत कर्मों का ज्ञान विशेषतः अनुमान के आधार पर कराया जाना चाहिए ऐसा आज के आयुर्वेद-शिक्षा शास्त्रियों का स्वागताई मत है। 'यत्र संग खवंगुण्यात्' के आधार पर निदान–चिकित्सा मे स्रोतसों का महत्व सर्वोपरि मानना चाहिए। इसी आधार पर इस पुस्तक में स्रोतो के आधार पर रोगों का वर्गीकरण एवं वर्णन करने का प्रयत्न किया गया है, प्रत्येक रोग की सम्प्राप्ति को यथासम्भव वैज्ञानिक एवं बुद्धिगम्य रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस पुस्तक में उद्धरण देकर कलेवर को बढ़ाने का प्रयत्न नहीं किया गया है, कारण कि आजकल रटने या श्लोकोद्धृत करने की परम्परा असामयिक एवं लुप्त-प्राय है। जिस छात्र को मूल ग्रंथों का अध्ययन करना हो उसे चरक-सुश्रुतादि ग्रंथ अवश्य पढ़ने चाहिए। इस पुस्तक का उद्देश्य छात्रों को निदान चिकित्सा का संक्षिप्त परन्तु स्पष्ट चित्र देना है। अनावश्यक प्राच्य-पाश्चात्य तुलनात्मक पद्धति को एक तरफ रख कर सभी सरल एवं वैज्ञानिक बातों को रोगों के वर्णन के समय आयुर्वेद के ही शब्दों में समझाने का यह प्रयास मेरी दृष्टि में सफल है। इस पुस्तक के प्रथम भाग का यह प्रथम संस्करण आपके हाथों में है। आशा है यह पुस्तक छात्रों को लाभ पहुँचायेगी। सुविधा एवं सामर्थ्य के अनुसार इसका दूसरा भाग भी भविष्य में प्रकाशित हो सकेगा इसी आशा के साथ—

जामनगर
१९६७

लेखक
शिवचरण ध्यानी

शुद्धिपत्र

पृष्ठ संख्या	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	४	जाना हैं	जाता है
२	५	पित्तानिसार	पित्तात्तिसार
२	२०	दोषोदिकों	दोषादिकों
४	७	पूनियुक्त	पूतियुक्त
५	६	आव्यमान	आध्मान
५	८	गुणन:	गुणत:
८	४	वनाये	बताये
११	१	मानसिक	शारीरिक
११	४	निथ्या	मिथ्या
१४	२	एवं वैगुण्य	खवैगुण्य
१४	१४	स्तम्भ	स्तम्भन
२८	६	उदराध्य्मान	उदराध्मान
५४	१४	के	को
५४	२४	वर्ण	वर्ण:—
५६	७	उराविदाह	उरोविदाह
१५२	३	स्नेह न	स्नेहन
१७५	५	स्त्रोतोदुणि	स्रोतोदुष्टि
१८०	१८	दो	मेदो
१८८	४	अयथालमारम्म	अयथावलमारम्भ
१९३	१	यह	यहाँ
१९९	१३	रवैगुण्य	खवैगुण्य
२१३	१६-१७	जिससे प्रथम	जिससे रस प्रथम
२३६	३	अन्त्र में	अन्त में
२६४	१७	महायोमराज	महायोगराज

अतिक्रम

१. दोष वैषम्य

दोष, धातु और मलों का एक निश्चित परिमाण में रहना उनकी 'साम्यावस्था' कहलाती है। जब इनका परिमाण विषम हो जाता है, तब उसे 'विषमावस्था' या 'वैषम्य' कहते हैं। अपने निश्चित परिमाण में रहने पर दोष अपना प्राकृत कर्म करते हैं जिन्हें शास्त्रों में वर्णित उनके प्राकृतिक कर्मों के देखने पर जाना जा सकता है। दोष-धातु-मलों का प्राकृत परिमाण भी शास्त्रों में वर्णित है। इनका परिमाण दो प्रकार से बिगड़ सकता है—(१) या तो ये बढ़ जाँय (वृद्धि) या (२) ये घट जांय (क्षय)। इस प्रकार वृद्धि और क्षय से दोष वैषम्य का ज्ञान होता है। प्राकृत कर्मों का अधिक होना 'वृद्धि' है और प्राकृत कर्मों का कम होना या बिल्कुल न होना 'क्षय' है। (च. सू. १७/६२)। उदाहरणार्थ—शरीर की ऊष्मा पित्त के द्वारा बनी रहती है। ऊष्मा का बढ़ जाना (ज्वर) पित्तवृद्धि का द्योतक है तथा ऊष्मा का कम होना पित्तक्षय का द्योतक है। इसी प्रकार रक्त का कम होना (पाण्डु) रक्तक्षय का द्योतक है तथा रक्त का बढ़ना (रक्तपित्त) रक्तवृद्धि का द्योतक है। इसी प्रकार मूत्र का अधिक होना (प्रमेह) मूत्रवृद्धि का द्योतक है। तथा मूत्र का कम होना मूत्रक्षय का द्योतक है। उपर्युक्त उदाहरणों से दोष-धातु-मलों के वृद्धि एवं क्षय समझ में आ जाते हैं। अब प्रश्न है कि क्या दोषादिकों की वृद्धि एवं क्षय सर्वतोभावेन होती है या उनके किसी एक अंश की। यथा, पित्त के कई गुण हैं; क्या पित्त की वृद्धि में पित्त के सभी गुण बढ़ जाते हैं और

पित्तक्षय में पित्त के सभी गुण घट जाते हैं ? । उत्तर है कि वृद्धि एवं क्षय दोनों प्रकार से होते हैं—सम्पूर्ण तथा आंशिक—परन्तु प्रधानत: एवं अधिकतर एक या दो गुणों में वैषम्य आता है, सब में नहीं । उदाहरणार्थ—ज्वर में पित्त का उष्ण गुण बढ़ जाना है, रक्तपित्त में पित्त का तीक्ष्ण गुण बढ़ता है, पित्तानिसार में पित्त का द्रवगुण बढ़ता है तथा अम्लपित्त में पित्त का अम्ल गुण बढ़ता है । इसी प्रकार सर्वत्र समझें ।

रोगों की उत्पत्ति के लिए दोष वैषम्य प्रथम अवस्था है । इसी के बाद सम्प्राप्ति बनती है और रोग हो जाता है । शास्त्रों में रोगों की सम्प्राप्ति लिखते समय दोष वैषम्य के लिए कई शब्दों का प्रयोग किया गया है—यथा, दोष प्रकोप, दोषवृद्धि, दोषोदरेक, दोष वैगुण्य तथा दोष दुष्टि । सम्प्राप्ति के बिना रोग नहीं होता है । सम्प्राप्ति की प्रथम अवस्था 'संचय' है जिसमें दोष अपने स्थान पर संचित होते हैं । क्षीण दोषों का संचय नहीं हो सकता है, क्योंकि कोई भी चीज इकट्ठा (संचित) तब हो सकती है जब वह बढ़े । 'संचय' से ही रोग होता है और 'संचय' दोषवृद्धि से ही हो सकता है । इस आधार पर दोषवृद्धि ही सभी रोगों का कारण है, दोषक्षय नहीं । पूर्वोक्त दोष प्रकोप, दोषोदरेक, दोषवैगुण्य आदि शब्दों से दोषवृद्धि ही समझनी चाहिये ।

दोषोदिकों का वैषम्य स्थानिक तथा सार्वदैहिक भी हो सकता है (सु. सू. २१/२९) । एक स्थान में उदक की वृद्धि और दूसरे स्थानों में उदक का क्षय और परिणाम स्वरुप प्यास लगना जलोदर में देखा जाता है । शोथ रोग में भी शोथयुक्त भाग में रस वृद्धि और अन्य भागों में रसक्षय के लक्षण मिलते हैं । ज्वर में सारे

शरीर में पित्तवृद्धि के लक्षण और आमाशय में पित्तक्षय के लक्षण मिलते हैं।

कभी कभी एक ही स्थान पर रहने वाले दो दोषों में से यदि एक बढ़ जाय तो दूसरे दोष के लक्षण अपेक्षाकृत क्षीण दीखने लगते हैं (च. चि. १८/५२)।

इस विवरण के आधार पर वृद्धि एवं क्षय (दोष वैषम्य) को निम्नलिखित रूप से समझा जा सकता है—

१. दोष सम्पूर्ण रूप से बढ़े या घटे (द्रव्यतः) } (कर्मतः)
२. दोष का एक विशिष्ट अंश बढ़े या घटे (गुणतः) }
३. स्थानिक वृद्धि या क्षय
४. एक दोष के बढ़ने पर दूसरे का आपेक्षिक क्षय।

दोष प्रकोप :—

चिकित्सा शास्त्र के तीन मुख्य सिद्धान्त हैं—

१. बढ़े हुये दोषों (धातु और मलों) को घटाकर साम्यावस्था में लाना।
२. क्षीण दोषों को बढ़ाकर साम्यावस्था में लाना।
३. समदोषों को बनाये रखना जिससे किसी भी प्रकार का रोग न हो सके।

सुश्रुत ने (सु चि. ३३/३) में भी यही बातें स्वीकार की हैं। उन्होंने बढ़े हुए दोषों को घटाने के लिए उन्हें शरीर से वमन-विरेचनादि द्वारा बाहर निकालना (संशोधन) ही ठीक उपाय बतलाया

है। घटे हुए दोषों को बढ़ाना तथा समदोषों का पालन करना भी उन्हें मान्य है। परन्तु इसी स्थल पर उन्होंने प्रकुपित दोषों का प्रशमन करने को लिखा है। इसलिए प्रश्न उठता है कि क्या दोपों के क्षय और वृद्धि के अतिरिक्त 'दोप प्रकोप' कोई तीसरी वस्तु है? कुछ धातुओं, उप धातुओं एवं मलों के वृद्धि, क्षय तथा प्रकोप के लक्षण शास्त्रों में वर्णित हैं; यथा शुक्रक्षय से संतान न होना, शुक्रवृद्धि से अधिक कामेच्छा तथा शुक्र प्रकोप से *पूतियुक्त—ग्रन्थियुक्त*—दुर्गन्धि–विवर्ण शुक्र का होना बताया गया है। लेकिन इस तरह सभी दोषादिकों का प्रकोप नहीं बताया गया है। साथ ही अधिकतर रोगों की सम्प्राप्ति में चरक ने 'दोषाः प्रकोपमापद्यन्ते' लिखा है और उन रोगों के निदानों को देखने पर वहाँ प्रकोप शब्द से 'वृद्धि' ही समझा जाता है। अतः यूँ कह सकते है कि अधिक बढ़े हुए दोषों को संशोधन करके बाहर निकालना और कम बढ़े हुए दोषों का शरीर में ही ..मन करना चाहिये। सुश्रुत का पूर्वोक्त मन्तव्य इसी अर्थ में समझ सकते हैं और 'दोष प्रकोप' से भी दोषवृद्धि ही समझ सकते है। चरक ने भी प्रत्येक रोग की चिकित्सा में—कुछ अपवादों को छोड़कर–संशोधन एवं संशमन करने को लिखा है।

जिन धातुओं तथा उपधातुओं के 'प्रकोप–लक्षण' मिलते हैं, उनको देखने पर ज्ञात होता है कि वे प्रायः रासायनिक प्रकार की दोषदूष्य सम्मूर्च्छना को बतलाते हैं और ये प्रकोप–लक्षण प्रायः विकृति विषम समवेत लक्षण होते हैं। इस प्रकार के लक्षणों में संशमन चिकित्सा ही अधिक लाभकारक एवं प्रचलित है। इस दृष्टि से 'दोष प्रकोप' से दोषदूष्य सम्मूर्च्छना जनित विकृति विषम समवाय युक्त द्रव्य/लक्षण की उत्पत्ति समझ सकते हैं।

दोष वृद्धि

जैसे कि हम कह चुके हैं, दोषवृद्धि चार प्रकार से हो सकती है—(१) सारे दोष की वृद्धि, (२) दोष के एक अंश की वृद्धि, (३) स्थानिक वृद्धि तथा (४) एक के क्षीण होने पर दूसरी की आपेक्षिक वृद्धि।

१ सारे दोष की वृद्धि (द्रव्यतः वृद्धि) का अच्छा उदाहरण आनाह एव *आध्यमान* है जिनमें वायु की द्रव्यतः वृद्धि होती है। श्वास एवं कास में कफ की द्रव्यतः वृद्धि होती है।

२. दोष के एक अंश की वृद्धि (गुणतः वृद्धि) के उदाहरण हैं—ज्वर (पित्त का उष्ण गुण बढ़ता है), रक्तपित्त (पित्त का तीक्ष्ण गुण) अतिसार (वायु का चल गुण), विबंध (वायु का रूक्ष गुण) आदि।

३. स्थानिक वृद्धि: आम से (यह किसी स्रोतस की रचना-विकृत से) दोषों की स्थानिक वृद्धि दिखाई देती है। ज्वर में आम से अवरोध होने के कारण सारी त्वचा में पित्तवृद्धि और आमाशय में पित्तक्षय के लक्षण मिलते हैं। आम से अवरोध (संग) होने पर एक स्थान पर वृद्धि और दूसरे किसी स्थान पर क्षय मिलता है। यह सिद्धान्त धातुओं में भी लागू होता है। पाण्डू में रसवह स्रोतस में आम से अवरोध होने के कारण जब शोथ होता है, तब शोथ युक्त भाग में उत्सेध (रस वृद्धि) तथा हृदय में हृद्द्रवत्व (रसक्षय का लक्षण) मिलता है। परन्तु आवरण की अवस्था में एक स्थान पर क्षय या वृद्धि होने पर भी दूसरे स्थान पर विपरीत लक्षण नहीं मिलते हैं—

यथा पक्षाघात में एक स्थान पर वायु के चल गुण का क्षय दीखता है, परन्तु दूसरे स्थानों पर चल गुण की वृद्धि नहीं होती है। पक्षाघात में प्रधान दोष कफ है जो कि वढ़कर वायु को आवृत कर देता है। इसी प्रकार कम्पवात में एक स्थान पर वायु के चल गुण की वृद्धि दीखती है। परन्तु दूसरे स्थान पर चल गुण का क्षय नहीं दीखता है। अतः स्थानिक वृद्धि यदि आमजन्य अवरोध या संग से हो तो स्थानिक क्षय भी साथ में अवश्य होता है। परन्तु यदि आवरण के कारण स्थानिक वृद्धि हो तो उसके साथ स्थानिक क्षय नहीं होता है।

४. एक दोष के क्षीण होने पर दूसरे दोष की आपेक्षिक वृद्धि—उदाहरणार्थ हृदय में अवलम्बक कफ और साधक पित्त रहते हैं। यदि अवलम्वक कफ का क्षय हो तो साधक पित्त के कर्म प्रबल दीखते है। परन्तु यह वृद्धि सापेक्ष है, वैकारिक वृद्धि नहीं है, अतः निदान–चिकित्सा में इसका विशेष महत्व नहीं है।

दोष वृद्धि कैसे होती है :—

जिस चीज का जिस चिज से निर्माण होता है, उसी से उसकी वृद्धि हो सकती है। प्राकृत अवस्था में आहार से दोषों का निर्माण होता है। मिथ्या आहार से दोषवृद्धि हो सकती है। मिथ्या आहार को भी यदि अग्नि पचा सके तो वह विकार नहीं करता है। परन्तु यदि मिथ्या आहार को अग्नि न पचासके तव अग्निमांद्य हो जाता है और दोषवृद्धि हो जाती है। अतः सभी रोग दोषवृद्धि से होते हैं,

अतः सभी रोगों में अग्निमांद्य एक आवश्यक घटना होती है। भस्मक रोग इसका एक ज्वलंत अपवाद है। दोषों के अनुकूल रसों के अधिक लेने से दोषवृद्धि होती है। प्रत्येक दोष के महास्रोतस में स्थान निश्चित हैं। इन्हीं स्थानों पर उनका संचय होता है। ये संचित दोष ही सारे शरीर में फैलकर पोष्य दोषों से मिलकर दोष-वृद्धि करते हैं।

चय तथा वृद्धि में अन्तर :—

१. चय कोष्ठ में होता है, वृद्धि सारे शरीर में।

२. चय सम्प्राप्ति की प्रथम अवस्था है, वृद्धि प्रसरावस्था में होती है।

३. चय पोषक दोषों का होता है, वृद्धि पोष्य दोषों की।

विहार, आचार तथा ऋतु-परिवर्त से भी दोषवृद्धि बताई गई है, यथा—व्यायाम से वातवृद्धि, दिवास्वप्न से कफवृद्धि, रात्रि जागरण से वातवृद्धि, क्रोध से पित्तवृद्धि, शोक एवं भय से वातवृद्धि, आतप से पित्तवृद्धि, शरद ऋतु में पित्तवृद्धि।

दोषक्षय

साधारणतः रोग दोषवृद्धि से ही होते हैं। दोषक्षय में दोष प्रायः आम या आवरण के द्वारा ही अपने लक्षण दिखाते हैं। सभी रोगों के निदान दोष—वृद्धि करने वाले बताये गए हैं, दोषक्षय करने वाले नहीं। आहार के अभाव में दोषों का यदि निर्माण तथा पोषण ठीक नहीं होता, तब भी धातुक्षय के कारण वातवृद्धि के ही लक्षण

प्रगट होते है। स्थानिक क्षय भी अवरोध के कारण दीख सकता है। कुछ दोषों के बढ़ने पर अन्य दोषों के लक्षण अपेक्षाकृत क्षीण दीख सकते है। कुछ लक्षण ऐसे हैं जो एक दोष की वृद्धि के लक्षणों में दूसरे दोष के क्षय के लक्षणों में बनाये गए हैं। यथा रूक्षता वातवृद्धि एवं कफक्षय को बताती है। ऐसी अवस्था में यह कहना कठिन है कि यह रूक्षता वातवद्धि के कारण हुई है या कफक्षय के। एतदर्थ अन्य लक्षणों को भी देखना चाहिए। यदि यह विवाद हल न भी हो सके तो भी चिकित्सा में विशेष अन्तर नहीं पड़ता है, कारण कि रूक्षता को दूर करने के लिए दिया गया स्नेह कफ वर्धक भी है और वातशामक भी। प्राय: सभी रोगों में दोषवृद्धि कारण है और धातुक्षय आवश्यक परिणाम है। यदि कदाचित् आहार सम्पत् के अभाव से या ऋतु परिणाम से दोषक्षय के लक्षण मिलें तदर्थ तदवर्धक रसयुक्त आहार लेना चाहिए।

२.

व्याधि किसे कहते हैं

ज्वर, विकार, रोग, व्याधि और आतंक-ये सब पर्यायवाची शब्द हैं, जिनसे शारीरिक या मानसिक वेदना अभिप्रेत होती है। वेदना शरीर या मन के प्राकृत कर्मो में क्षय या वृद्धि रूपक वैपम्य-लक्षणों के रूप में व्यक्त की जाती है। शरीर निर्मायक तत्वों-दोपादिकों-में जब वैपम्य आ जाता है तो शरीर या मन को कष्ट होता है। इस कष्ट की अनुभूति को जिन शब्दों में व्यक्त किया जाता है, उन्हें लक्षण कहते है। चिकित्सक लक्षण समुच्चय से व्याधि का निश्चय करता है। यह स्मरणीय एवं अविस्मरणीय है कि लक्षण या लक्षण समुच्चय 'व्याधि' नहीं हैं। व्याधि तो शारीरिक या मानसिक, उस विकृति का नाम है, जिससे लक्षणों की उत्पत्ति होती है। विकृति द्रव्य में होती है, लक्षणों में नहीं, यथा शिरः शूल के रोगी में, विकृति या विकृति-प्रभाव शिर में होता है, शूल में नहीं। इस आधार पर 'लक्षण समुच्चयो व्याधिः' नहीं कहा जा सकता है तो क्या दोप-धातु और मलों के वैषम्य को व्याधि कहें? नहीं। ऐसा मानने पर सम्प्राप्ति की छः अवस्थाये क्यों मानी जायें, कारण कि दोप और दूष्यों में वेपम्य तो चयावस्था में ही आ जाता है। दोपादिकों के वैपम्य से भी, अवश्य कुछ लक्षणों की उत्पत्ति होती है लेकिन उनसे किसी निश्चित रोग का ज्ञान नहीं होता है। 'दोष दूष्य सम्मूर्च्छना जनितो व्याधिः'। यही मानना उचित है। दोष और दूष्य की सम्मूर्च्छना (समिश्रण) से व्याधि की उत्पति होती है। 'दोप धातु मल मूलं हि शरीरम्' से शरीर निर्मायक

स्थूल घटकों को दोष, धातु और मलों में विभक्त किया गया है, जिनमें से धातु और मल दूष्यों की श्रेणी में आते हैं और दोषों की एक पृथक श्रेणी बन जाती है। सम्प्राप्ति की चयादि अवस्थाओं में से स्थान संश्रय की अवस्था में दोष दूष्य सम्मूर्छना होती है; विकृत दोष दूष्य से जा मिलता है। इसी के बाद 'व्यक्ति' की अवस्था में लक्षणों की उत्पत्ति होती है। विकृत दोष का दूष्य से जा मिलना, सम्मूर्च्छना कहलाती है। यह सम्मूर्च्छना दो प्रकार की हो सकती है—

१ भौतिक स्वरूप का मिश्रण:—दोष और दूष्य सम्मूर्च्छित हो जायें लेकिन उनसे तीसरा द्रव्य विशेष न बने। इस प्रकार की सम्मूर्च्छना से 'प्रकृति सम समवेत लक्षण' उत्पन्न होते हैं और उनमें दोष प्रत्यनीक चिकित्सा की जाती है।

२. रासायनिक स्वरूप का मिश्रण:—दोष और दूष्य सम्मूर्च्छित हो जायें और उससे किसी तीसरे द्रव्य-विशेष की उत्पत्ति हो। इस प्रकार की सम्मूर्च्छना से 'विकृति विषम समवेत लक्षण' उत्पन्न होते है और उनमें व्याधि प्रत्यनीक चिकित्सा की जाती है।

व्याधि कितने प्रकार की होती है—

१. शारीरिक और मानसिक भेद से व्याधि दो प्रकार की होती-हैं। जिस रोग में प्रधान विकृति शारीरिक दोषों (वात-पित्त कफ) की हों, वह शारीरिक व्याधि कहलाती है। जिस रोग में प्रधान विकृति मानसिक दोषों (रज और तम) की हो, वह मानसिक व्याधि कहलाती है। शारीरिक व्याधियों में

प्रधानत: मानसिक लक्षण मिलते हैं। यह वर्गीकरण अधिष्ठान भेद से किया गया है।

२. कारण भेद से व्याधि के निज और आगन्तुक भेद कर सकते हैं। निज कारणों (निथ्या आहार-विहार) से उत्पन्न व्याधि को 'निज' और आगन्तुक कारणों (आघात, भूत, ग्रहवाधा) से उत्पन्न व्याधि को 'आगन्तुक' व्याधि कहते हैं।

३. माता पिता से ही प्राप्त जन्मजात व्याधि को 'सहज व्याधि' कहते हैं और जन्मोत्तर रोग को, जो निज या आगन्तुक कारण से पैदा हों, कालकृत (या जन्मोत्तार) रोग कहते हैं।

४. भूख, प्यास, वृद्धावस्था आदि भी एक प्रकार के 'स्वाभाविक रोग' होते हैं।

५. दोपों के आधार पर भी रोग के भेद किये जाते है—वातिक, पैत्तिक, कफज, द्वन्दज एवं सान्निपातिक।

६. प्रधान लक्षण के आधार पर रोगों का नाम रखा जाता है—यथा ज्वर, अतिसार, छर्दि आदि।

७. अवयव की मुख्य विकृति जिन रोगों में होती है, उनके नाम अवयव के आधार पर रखे गए है—यथा हृद्रोग, संधिवात, ग्रहणी, यकृदाल्युदर आदि।

८. कारण की प्रधानता जिन रोगों में हो, उनके भेद कारण के नाम पर किये गए हैं—यथा कृमिज हृद्रोग, मृत्तिका भक्षण जन्य पाण्डु, साहसज यक्ष्मा, भयज अतिसार आदि।

९. सभी दोषों का संचय कोष्ठ में होता है। कोष्ठ को आमाशय (अन्नवह स्रोतस) और पक्वाशय (पुरीप वह स्रोतस) में विभक्त करते हैं। इसीलिए कोष्ठ का पर्याय 'आम पक्वाशय' भी दिया है। इस आधार पर कफ और पित्त के रोग 'आमाशयोत्थ' कहलाते है और वायु के रोग 'पक्वाशयोत्थ' कहलाते हैं।

१०. निदानों के सेवन से बहुत कम समय में उत्पन्न होने वाले तथा चिकित्सा करने पर शीघ्र ठीक होने वाले और चिकित्सा में देरी करने पर शीघ्र मृत्यु करने वाले रोगों को 'आशुकारी' कहते हैं। इन आशुकारी व्याधियों में प्राय: जो दूष्य होता है, तद्वह स्रोतस में ही स्थान संश्रय होता है और प्राय: एक ही स्रोतस अधिक दुष्ट होता है यथा—अतिसार, विषूचिका, ज्वर, अलसक, विलम्बिका, शूल, तृष्णा, छर्दि, मूर्च्छा, उर: क्षत, मदात्यय आदि।

'चिरकारी' व्याधियों में कई स्रोतस दुष्ट होते हैं; अवयव सम्बन्धी विकृति हो सकती है; जो दूष्य होता है, तद्वह स्रोतस से भिन्न स्रोतस में भी स्थान संश्रय हो सकता है; निदान के अधिक दिनतक सेवन करने से उत्पन्न तथा अधिक दिन चिकित्सा करने पर शान्त होने वाले रोग आते है—यथा, ग्रहणी, उदररोग, अर्श, राजयक्ष्मा, कुष्ठ, पाण्डु, प्रमेह, कामला, श्वास, अजीर्ण वातव्याधि आदि।

११. चिकित्सा परिणाम के दृष्टिकोण से व्याधि को साध्य और असाध्य, इन दो भागों में विभक्त कर सकते है। साध्य को

पुनः कृच्छ्रसाध्य तथा सुखसाध्य में विभक्त कर सकते हैं और असाध्य को याप्य (जब तक दवा चले तब तक रोग पर नियंत्रण) तथा प्रत्याख्येय (कहकर कि रोगी की मृत्यु हो जायगी, रोगी की चिकित्सा प्रारम्भ करना) में विभक्त कर सकते हैं।

१२. संतर्पक कारणों से उत्पन्न रोग को 'संतर्पणोत्थ' और अपतर्पक कारणों से उत्पन्न रोग को 'अपतर्पणोत्थ कहते है।

---

३. | चिकित्सा

रोग को दूर करने के उपायों का नाम चिकित्सा है। रोग की उत्पत्ति में दोष वैषम्य, एवं वैगुण्य तथा दोष दूष्य सम्मूर्च्छना प्रमुख घटनायें हुआ करती हैं। इनके अतिरिक्त अग्निमांद्य प्रायः सभी रोगों में माना गया है। इसलिए इन चारों घटनाओं को न होने देना तथा होने पर उन्हें तोड़ना चिकित्सा कहलाती है। सम्यक् अग्नि, आहार, विहार तथा आचार से शरीर के स्थूल भाव (दोष-धातु-मल) सम परिणाम में रहते हैं तथा सूक्ष्म भाव (आत्मा इन्द्रियाँ-मन) प्रसन्न रहते हैं जिससे स्वस्थावस्था बनी रहती है। असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध और परिणाम (मिथ्या आहार-विहार) से दोष वैषम्य होता है, अतः निदान परिवर्जन चिकित्सा का प्रथम सूत्र होता है। अपतर्पक निदानों से दोषादिकों का क्षय एवं संतर्पक निदानों से दोषादिकों की वृद्धि होती है। सन्तर्पणोत्थ व्याधि में अपतर्पण चिकित्सा और अपतर्पणोत्थ व्याधि में सन्तर्पण चिकित्सा की जाती है। स्नेहन, स्तम्भ और वृंहण कर्म करने वाली औषधियों से संतर्पण चिकित्सा और रूक्षण, स्वेदन एवं लंघन कर्म करने वाली औषधियों से अपतर्पण चिकित्सा होती है। इन छः कर्मों को 'षट् उपक्रम' भी कहते हैं। भौतिक प्रकार की दोष दूष्य सम्मूर्च्छना में प्रकृति समसमवेत लक्षणों से विशिष्ट दोष एवं दूष्य के विकृत गुण-कर्मों का ज्ञान कर तद्विपरीत गुण-कर्म वाली औषध से चिकित्सा की जाती है। क्योंकि (यतः) इस प्रकार के रोगों में दोष तथा दूष्य का पता लग जाता है, अतः वृद्धिगम्य रस, गुण, वीर्य

तथा विपाक के सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए चिकित्सा की जाती है। इसे ही दोष प्रत्यनीक चिकित्सा कहते हैं। रासायनिक प्रकार की दोष दूष्य सम्मूर्च्छना से उत्पन्न विकृति विषम समवेत लक्षणों के लिए व्याधि प्रत्यनीक चिकित्सा की जाती है जिसमें मुख्यतः द्रव्यों के कर्मों को तथा प्रभाव को ध्यान में रखा जाता है। इस प्रकार 'प्रभाव' व्याधि प्रत्यनीक चिकित्सा के अन्तर्गत आता है। व्याधि प्रत्यनीक चिकित्सा में दोष-दूष्यों के प्रति उतना अधिक ध्यान नहीं देते जितना कि व्याधि के प्रति। यथा—अतिसार में कोई भी स्तम्भक औषध, विबंध में कोई भी स्रंसन गुणयुक्त औषध, आनाह में कोई भी अनुलोमक औषध। दोष प्रत्यनीक चिकित्सा और व्याधि-प्रत्यनीक चिकित्सा का साथ साथ किया जाना 'उभय प्रत्यनीक चिकित्सा' कही जाती है। आजकल एकौषध चिकित्सा प्रायः नहीं की जाती, योग दिये जाते हैं। ये सभी योग वस्तुतः व्याधि प्रत्यनीक चिकित्सा में समाविष्ट होते हैं। स्पष्ट कहें तो आजकल औषध व्याधि प्रत्यनीक दी जाती है और अनुपान तथा पथ्य दोष प्रत्यनीक दिये जाते हैं।

इसके अतिरिक्त यदि दोष अधिक बढ़ गए हों तो उन्हें शरीर से वमन-विरेचनादि द्वारा बाहर निकाला जाता है, इसे संशोधन चिकित्सा कहते हैं। यह संशोधन चिकित्सा भी भौतिक प्रकार की दोष दूष्य सम्मूर्च्छना में ही अधिक की जाती है। दोष कम बढ़े हुए हों तथा रासायनिक प्रकार की दोष दूष्य सम्मूर्च्छना हो तो उन्हें शरीर में ही शान्त करना चाहिए—इसे संशमन चिकित्सा कहते हैं। चरक ने प्रत्येक रोग में प्रथम संशोधन और पश्चात् संशमन करने को लिखा है। व्यवहार में आजकल संशमन चिकित्सा ही अधिक की जाती है।

मानसिक रोगों में मन को धैर्य देने वाले उपचार तथा रोगी के विश्वास के अनुसार मंत्र, तंत्र, जप, होम आदि भी किये जाने चाहिए। श्रद्धा तथा विश्वास का चिकित्सा में महत्व है, अतः रोगी की श्रद्धा वाली चिकित्सा प्रणाली, रोगी का विश्वस्त चिकित्सक तथा मनोबल बढ़ाने वाला वातावरण भी अपना महत्व रखते हैं।

इस प्रकार चिकित्सा को अधोलिखित वर्गों के दृष्टिकोण से समझना चाहिए।

१. संशोधन तथा संशमन चिकित्सा।
२. दोष प्रत्यनीक, व्याधि प्रत्यनीक एवं उभय प्रत्यनीक चिकित्सा।
३. संतर्पण तथा अपतर्पण चिकित्सा (षट् उपक्रम)
४. शारीरिक तथा मानसिक चिकित्सा।

चिकित्सा और उपशय में अन्तर

उपशय रोग विनिश्चय करने के लिए किया जाता है, चिकित्सा रोग विनिश्चय के बाद की जाती है। इस अन्तर के सिवाय दोनों में कोई आधार भूत अन्तर नहीं है।

---

४. |

निदान

निदान शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है; रोग को उत्पन्न करने वाले कारण और रोग विनिश्चय। इसका शास्त्रीय प्रयोग रोगोत्पादक कारणों के लिए मिलता है। हेतु, निमित्त, आयतन, कर्ता, कारण, प्रत्यय, समुत्थान, मूल, योनि, मुख, प्रेरण और प्रकृति—ये सब निदान के पर्याय हैं। कारण तीन प्रकार के होते हैं–निमित्त कारण, जैसे वस्त्र बनाने में वस्त्र बुनने वाला मनुष्य और करघा आदि; समवायि कारण, जैसे सूत वस्त्र का समवायि कारण है; तथा असमवायि कारण, जैसे अनेक डोरों का संयोग वस्त्र का असमवायि कारण है। इसी प्रकार रोगोत्पत्ति में निदान निमित्त कारण, दोष वैषम्य समवायि कारण और दोष-दूष्य-सम्मूर्च्छना असमवायि कारण है। निदान रोग का आदि कारण माना जाता है और निदान परिवर्जन चिकित्सा का प्रथम सिद्धान्त माना जाता है।

निदान के तीन मुख्य काम :–

निदान तीन प्रकार के कार्य करता है। इसे स्पष्ट समझने के लिए व्याधि की उत्पत्ति पर संक्षिप्त रूप से विचार करें। सर्व प्रथम मिथ्या आहार विहार से दोषों का अपने कोष्ठस्थ स्थानों में संचय होता है और यदि उस अवस्था में चिकित्सा न की गई तो दोषों का प्रकोप और प्रसरण होता है। शरीर में घूमते हुए विकृत दोषों को जहाँ ख वैगुण्य मिलता है, वहीं पर वे दोष स्थानसंश्रय कर लेते हैं

ग्रौर तब दोप दूष्य सम्मूर्च्छना होती है जिससे व्याधि की व्यक्ति होती है । इस विवरण से तीन बातें प्रधानतया स्पष्ट होती हैं :–

१. दोषों का प्रकोप

२. रव वैगुण्य

३. दोपों के द्वारा दूष्यों की दुष्टि

निदान के द्वारा दोपों का प्रकोप :–

१—दोषों के गुणों के समान गुण वाले निदानों से दोपों की वृद्धि ग्रौर विरूद्ध निदानों से दोषों का क्षय बताया गया है ।

२—दोषों को वढ़ाने ग्रौर शान्त करने या घटाने वाले रस वतलाये हैं । इन्हीं रसों के ग्रधिक सेवन से या कम सेवन ग्रथवा ग्रसेवन से क्रमशः दोषवृद्धि एवं दोषक्षय होता है । विहार की ग्रपेक्षा ग्राहार दोप प्रकोप में ग्रधिक महत्व रखता है ।

निदान के द्वारा रव वैगुण्य की उत्पत्ति :–

१—यदि रव वैगुण्य या स्व वैगुण्य का विवाद उपस्थित करवे कहा जाय कि दोष स्वयं ही रव वैगुण्य उत्पन्न करते हैं तो प्रश्न होगा कि दोष किसी विशिष्ट स्रोतस को ही दुष्ट क्यों ग्रौर कैसे करते हैं ? प्रसरणशील दोष सर्व प्रथम रसवह स्रोतस के सम्पर्क में ग्राते हैं, ग्रतः दोषों को प्रकुपित होकर सदा रसवह स्रोतों को ही दूषित करना चाहिए ग्रौर इस प्रकार केवल रसवह स्रोतस की ही व्याधियाँ होनी चाहिए, ग्रन्य नहीं ।

२—सम्प्राप्ति की चय, प्रकोप आदि घटनाओं के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि दोषों का संग या स्थान संश्रय वहीं पर होता है जहाँ रव वैगुण्य उपस्थित हो और वहीं व्याधि की उत्पत्ति होती है। स्पष्ट है कि प्रसरण करते हुए दोषों को स्थान संश्रय के लिए वना वनाया रव वैगुण्य मिलता है; अतः प्रश्न उठता है कि यह किसने किया। इसका यही एक मात्र उत्तर है कि निदान के एक अंश से रव वैगुण्य होता है। उदाहरणार्थ देखिये निम्नलिखित व्याधियों में निदान का रव वैगुण्योत्पादक अंश—

श्वास में	—	रज और धूम्र सेवन।
उरःक्षत में	—	प्लावन, धावन, आघात,
रक्तपित्त में	—	आतप, व्यायाम, श्रम।
जलोदर में	—	स्नेहन, अनुवास, वमन, विरेचन के वाद सहसाशीतल जल पीना।
निज शोथ में	—	चेष्टाहीन अर्श, मर्मोपघात विपम प्रसूति।
स्वरभेद में	—	उच्च भाषण, विष सेवन, जोर से पढ़ना।
कास में	—	धम्र, रजःकण, भोजन के अंश का श्वास प्रणाली में जाना।

३—निदान के रववैगुण्योत्पादकत्व का ज्वलन्त उदाहरण कोई भी अभिघातज आगन्तुक व्याधि लीजिये। कल्पना कीजिये किसी व्यक्ति की अंगुली कट गई। इससे वात का प्रकोप होगा और उसका स्थान संश्रय उसी कटे हुए स्थान पर होगा, इसीलिए वहाँ पर वेदना होगी। इस उदाहरण में वात के स्थान संश्रय के लिए आघात (निदान)द्वारा वना वनाया रववैगुण्य था। उरःक्षत तथा साहसज यक्ष्मा के निदानों से उरस में क्षत और उसो स्थान पर

दोषों का स्थान संश्रय आदि घटनाओं से भी इसी बात की पुष्टि होती है।

४—प्रत्येक व्याधि वात, पित्त और कफ के प्रकोप से ही होती है; तो इन तीनों को प्रकुपित करने वाले निदानों को एक ही स्थान पर लिख देना चाहिए था; हर व्याधि के अलग अलग निदान हर रोग के प्रकरण में लिखने की आवश्यकता नहीं थी। ज्वर और रक्तपित्त में पित्त प्रधान दोष है, फिर इनके निदानों में अन्तर क्यों ?। इसका एक कारण तो यह है कि दोषों के भिन्न भिन्न गुणों को प्रकुपित करने के कारण (ज्वर में तथा रक्तपित्त में पित्त का क्रमशः उष्ण एवं तीक्ष्ण गुण) निदानों में अन्तर होता है। दूसरा कारण यह है कि विभिन्न स्रोतों को प्रकुपित (खवैगुण्य) करने के लिए निदान भी भिन्न होते हैं। इस संदर्भ में देखेंगे तो ज्वर के निदान का कुछ अंश पित्त प्रकोपक तथा कुछ रसवह स्रोतो वैगुण्यकर होता है; और रक्तपित्त के निदान का कुछ अंश पित्त प्रकोपक तथा कुछ अंश रक्तवह स्रोतो वैगुण्यकर होता है।

५—यदि सदा दोषों से ही खवैगुण्य होता तो शास्त्रों में स्रोतो दुष्टिकर निदान पृथक क्यों लिखे गये हैं। इन सभी बातों से सिद्ध होता है कि खवैगुण्य निदान के द्वारा ही होता है।

निदान के द्वारा दूष्यों में प्रारम्भिक विकृति :—

१—निदान का कुछ अंश धातुओं और मलों में कुछ ऐसी दुर्बलता या विषमता ला देता है कि वे दोषों द्वारा दुष्ट हो जाते हैं। यदि निदान का कुछ अंश दूष्यों में दुष्ट-भावित्व उत्पन्न नहीं करता

और दोष ही दूष्यों को अपने आप दुष्ट कर देते हैं, तो प्रश्न होगा कि दोष किसी विशिष्ट दूष्य को ही दुष्ट क्यों करते हैं ?

२—यदि यह कहा जाय कि जिस स्रोतस में खवैगुण्य के कारण स्थान संश्रय होता है, उसी स्रोतस में बहने या रहने वाले दूष्य को दोष दुष्ट कर देते हैं और इसीलिए ज्वर में पित्त का स्थानसंश्रय रसवह स्रोतस में—अतः रस दूष्य, और रक्तपित्त में पित्त का स्थानसंश्रय रक्तवह स्रोतस में-अतः रक्त दूष्य हुआ। तो प्रश्न होगा कि श्वास में स्थान—संश्रय प्राणवह स्रोतों में होता है लेकिन दूष्य रस होता है; प्रमेह में मेद, मांस तथा क्लेद दूष्य हैं, परन्तु स्थान संश्रय मूत्रवह स्रोतस में होता है—यह कैसे ? ।

३—यदि यह कहा जाय कि दूष्य तो समस्त शरीर में उपस्थित रहते हैं और इसलिए जहाँ पर दोषों का स्थान संश्रय होता है वहीं पर वे किसी भी दूष्य को दूषित करते हैं—तो प्रश्न होगा कि इसका क्या नियम है; श्वास में रस ही दूष्य क्यों होता है, रक्त क्यों नहीं।

इन सभी बातों से स्पष्ट है कि निदान का एक अंश दूष्यों में दुष्ट भावित्व उत्पन्न कर देता है।

इस प्रकार निदान तीन प्रकार के कार्य करता है; दोष प्रकोप, खवैगुण्य तथा दूष्यों में दुष्ट भावित्व उत्पन्न करना।

निदान के प्रकार या भेद :—

१—सामान्य और विशिष्ट भेद से निदान के दो भेद किये जाते हैं। मिथ्या आहार विहार जो निज रोगों को उत्पन्न करता

है, वह सामान्य निदान कहलाता है। विष, शस्त्र, अग्नि, कृमि, दंसक प्राणी आदि वाह्य कारणों से आगन्तुक रोगों की उत्पत्ति होती है; इस प्रकार के निदान विशिष्ट निदान कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक रोग के सामान्य निदान तथा उस रोग के भेदों के विशिष्ट निदान भी होते हैं; यथा ज्वर के सामान्य निदान; पित्त-ज्वर के विशिष्ट निदान आदि।

२—असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध तथा परिणाम भेद से निदान के तीन भेद किये जाते हैं। इन्द्रियों का अपने विषयों के साथ अयोग, अतियोग या मिथ्या योग ही असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग कहलाता है। बुद्धि के अपराध से होने वाले कायिक, वाचिक एवं मानसिक कर्मो को ही प्रज्ञापराध से कहा गया है। परिणाम के अन्तर्गत अहित शीत-उष्ण तथा ऋतुओं में तदनुकूल प्राकृतिक जल वायु में अन्तर समाविष्ट हैं। वर्षाऋतु में वर्षा का बहुत अधिक होना या बिल्कुल न होना भी रोगोत्पत्ति में सहायक है। इन सब ऋतु विपर्ययों को परिणाम के अन्तर्गत लिया गया है।

संक्षेपतः निदान के भेद इस प्रकार करने चाहिए—

१—समवायि—असमवायि—निमित्त।

२—सामान्य—विशिष्ट।

३—असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग—प्रज्ञापराध—परिणाम।

———

५. सम्प्राप्ति

जाति, आगति, निर्वृत्ति तथा निष्पत्ति—ये सब सम्प्राप्ति के पर्याय हैं। प्रदुष्ट दोषों द्वारा शरीर में भ्रमण करते हुए, स्थानसंश्रय करते हुए, दूष्यों को दूपित करते हुए जिस प्रकार रोग उत्पन्न होता है उसे सम्प्राप्ति कहते हैं।

सम्प्राप्ति के भेद :—

१—संख्या सम्प्राप्ति—रोगों के विभिन्न भेदों की अपनी विशिष्ट सम्प्राप्ति होती है। वस्तुत: इन ही विशिष्ट सम्प्राप्तियों के कारण रोगों के भेद होते हैं—यथा ज्वर आठ प्रकार का, गुल्म पांच प्रकार का आदि। इसे ही संख्या सम्प्राप्ति कहते हैं।

२—प्राधान्य सम्प्राप्ति—अमुक रोग में अमुक दोष की प्रधानता है; या अमुक दोष बहुत बढ़ा हुआ, दूसरा दोष उससे कम बढ़ा हुआ है—इसे ही प्राधान्य सम्प्राप्ति कहते हैं।

३—विकल्प सम्प्राप्ति—अमुक रोग में अमुक दोष का अमुक गुण विकृत होता है—इस प्रकार का ज्ञान इस सम्प्राप्ति से होता है। दोषों की अंशांश कल्पना इसी के अन्तर्गत आती है।

४—विधि सम्प्राप्ति—दोष भेद से, साध्य-असाध्य भेद से तथा मृदु और दारुण आदि भेदों से रोगों के भेद करना विधि सम्प्राप्ति कहलाती है। श्री कविराज गणनाथ सेन इसे संख्या सम्प्राप्ति के अन्तर्गत ही मानते हैं, स्वतंत्र रूप से नहीं।

५—बल काल सम्प्राप्ति—रोग किस ऋतु में हुआ है और उसका ऋतु गत दोषों के साथ क्या सम्बन्ध है तथा रोग बहुत उग्र है या मृदु है—ये सब बातें इससे समझी जाती हैं ।

इस प्रकार सम्प्राप्ति के पांच भेद हैं—संख्या, प्राधान्य, विकल्प, विधि तथा बलकाल । सम्प्राप्ति एक महत्वपूर्ण विषय है, कारण कि इसमें रोग के उत्पन्न होने की सभी अवस्थाओं का समावेश है ।

सम्प्राप्ति की अवस्थायें :—

सुश्रत ने सम्प्राप्ति की ६ अवस्थाओं का वर्णन किया है—संचय या चय, प्रकोप, प्रसर, स्थान संश्रय, व्यक्ति और भेद । इनमें से प्रथम पांच ही वास्तव में सम्प्राप्ति की महत्वपूर्ण अवस्थायें हैं । भेद रोग उत्पन्न हो जाने के वाद की बात है जबकि सम्प्राप्ति का क्षेत्र रोग उत्पन्न होने तक ही है उसके बाद नहीं । प्रत्येक रोग में ये सभी अवस्थायें होती हैं । दोषों को रोग उत्पन्न करने के लिए इन्हीं अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है । प्रत्येक अवस्था की चिकित्सा शास्त्रों में वर्णित है । इन अवस्थाओं की चिकित्सा को 'क्रियाकाल' शब्द से कहा गया है । ये अवस्थायें ६ हैं, अतः क्रियाकाल भी ६ हैं ।

संचय या चय :—

यह सम्प्राप्ति की प्रथम अवस्था है । इस पर विचार करते समय निम्नलिखित बातें स्मरणीय हैं—

१—'चयो वृद्धिः स्वधाम्न्येव' के अनुसार दोषों का चय अपने ही स्थान पर होता है । प्रत्येक दोष के पाँच पाँच भेद बतलाये

गये हैं और उनके अपने अपने स्थान भी बतलाये गये हैं। अतः प्रश्न होता है कि केवल कोष्ठस्थ दोषों का ही चय होता है और वे ही स्वयं या अपने अन्य भेदों को भी विकृत करके रोग उत्पन्न करते हैं ? या अवस्था विशेष के अनुसार दोषों के किसी भी भेद का अपने ही स्थान पर चय होता है—यथा, पाचक पित्त का चय ग्रहणी में; आलोचक पित्त का चय नेत्र में, इत्यादि।

इस प्रश्न के उत्तर में यह कहना चाहिए कि दोषों का चय उनके प्रधान स्थानों पर होता है। कफ का प्रधान स्थान आमाशय, पित्त का प्रधान स्थान ग्रहणी और वायु का प्रधान स्थान पक्वाशय बतलाया गया है। ये ही दोषों के कोष्ठगत विशिष्ट स्थान हैं और इन्हीं स्थानों पर दोषों का चय होता है। आरम्भ में विकृति इन्हीं स्थानों में स्थित दोषों में आती है और बाद में ये अपने अन्य भेदों को भी विकृत करते हैं। चय के लक्षणों में कोष्ठगत लक्षण ही प्रधान होते हैं और कोष्ठशुद्धि करना ही इस अवस्था की चिकित्सा (प्रथम क्रियाकाल) बतलाई गई है।

२—किसी भी चीज का संचित (इकट्ठा) होना उनकी गति या मार्ग में अवरोध होने का द्योतक है। व्याधि की उत्पत्ति में निदान के बाद 'चय' का क्रम आता है। प्रश्न होता है कि दोषों के संचित होने के लिए अवरोध किसने, कब और कैसे किया ?

दोषों के चय के लिए अवरोध आम से उत्पन्न होता है; आम अग्निमांद्य से और अग्निमांद्य निदान से उत्पन्न होता है।

३—भोजन को पचाने के लिए महास्रोतस की भित्ति से निकलने वाले दोषों को पोष्य दोष कहते हैं और भोजन के पाचनान्तर बनने वाले दोषों को पोषक दोष माना जाता है। पोषक दोष ही आहाररस के साथ शोषित होकर शरीरस्थ पोष्य दोषों का पोषण करते हैं। अब प्रश्न होता है कि चय पोष्य दोषों का होता है या पोषक दोषों का ? उत्तर में कहना चाहिए कि कोष्ठ में आम के द्वारा आवरण होने के कारण एक ओर पोषक दोषों का चय होता है और दूसरी ओर पोष्य दोषों का। पोषक दोष विकृत होते हैं और संचित होते है परन्तु पोष्य दोषों के संचय में विकृति नहीं आती है।

४—पोष्य और पोषक दोषों में से व्याध्युत्पादकत्व किसमें अधिक होता है ? रोगोत्पत्ति में दोनों प्रकार के दोष भाग लेते हैं। प्रसरावस्था में दोनों मिलकर विकृति उत्पन्न करते है—

निदान→ अग्निमांद्य→ आम→संग
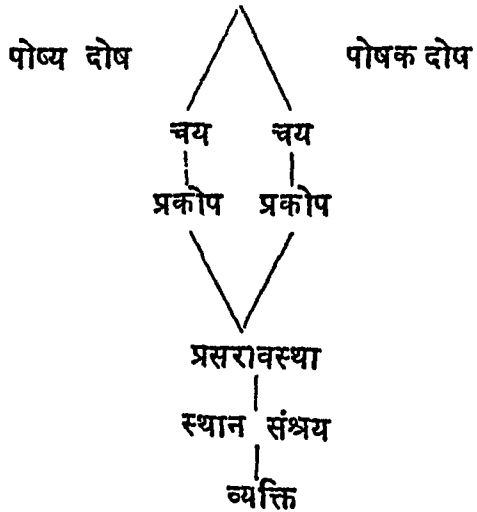
५—दोषों के जो गुण वर्णित हैं, उनकी विकृति से भिन्न भिन्न व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। एक ही पित्त अपने उष्ण गुण से ज्वर, सरगुण से अतिसार, तथा तीक्ष्ण गुण से रक्तपित्त उत्पन्न कर सकता है। जिज्ञासा होती है कि दोषों के सभी गुणों का चय होता है या अवस्थानुसार किन्हीं विशिष्ट गुणों का ही चय होता हैं ? इस सम्वन्ध में यह ज्ञातव्य है कि अवस्थानुसार या निदानानुसार दोषों के विशिष्ट गुणों का ही चय होता है। पोषक दोष का जो अंश संचित एवं विकृत होता है, वही अंश प्रसरावस्था में पोष्य दोष के उसी अंश से मिलकर रोग उत्पन्न करता है।

६—यदि संचय के लिए अवरोध था तो प्रसरावस्था के लिए उसे हट जाना चाहिए ताकि पोषक और पोष्य दोष मिल सकें। यह अवरोध कैसे दूर हो जाता है ? आम आमविष में वदल जाता है और विष सूक्ष्म तथा स्रोतोगामी होने से प्रसर कर लेता है और रोग उत्पन्न करता है।

७—यदि प्रत्येक रोग के लिए सम्प्राप्ति की आवश्यकता होती है और सम्प्राप्ति 'चय' से प्रारम्भ होती है तो फिर क्षीण दोषों का चय सम्भव नहीं है, अतः दोषक्षय से रोग कैसे हो सकता है ? वास्तव में दोषक्षय आपेक्षिक हुआ करता हैं अतः इसका रोगोत्पत्ति से कभी भी सीधा सम्बन्ध नहीं आता है।

कोप :—

यह सम्प्राप्ति की दूसरी अवस्था हैं। दोषों का संचय जव वढ़ जाता है और दोष प्रसरण की तैयारी करने लगते हैं, तव वह

प्रकोपावस्था कहलाती है। इस समय चिकित्सा करना द्वितीय क्रियाकाल कहलाता है। प्रकोपावस्था में वायु से उदर वेदना तथा उदर में वायु; पित्त से अम्लोद्गार, प्यास तथा दाह; कफ से अरुचि तथा उत्क्लेश लक्षण उत्पन्न होते हैं।

प्रसर :—

यह सम्प्राप्ति की तीसरी अवस्था है। इस अवस्था में आम आमविष में बदल जाता है और दोप सारे शरीर में घूमने लगते हैं। सर्व प्रथम दोष रसधातु के सम्पर्क में आते हैं और उसी के साथ समस्त शरीर में घूमते हैं। इस अवस्था में वायु से उदराध्य-मान या उदर में गुड़गुड़ाहट; पित्त से ओष-चोष-परिदाह-धूमायन; कफ से अरोचक, अविपाक, अंगसाद तथा छर्दि होते हैं। इस अवस्था की चिकित्सा 'तृतीय क्रियाकाल' कहलाती है।

स्थान संश्रय :—

यह सम्प्राप्ति की चतुर्थ अवस्था है। प्रसरावस्था में दोप सारे शरीर में घूमते हैं। जहाँ जिस स्रोतस में उन्हें खवैगुण्य मिलता है, वहीं पर वे आश्रय कर लेते हैं और दूष्य के साथ मिल जाते हैं—इसे 'दोष दूष्य सम्मूर्च्छना' कहते हैं। 'दोष दूष्य सम्मूर्च्छना जनितो व्याधिः' के अनुसार इसी अवस्था से रोग की वास्तविक उत्पत्ति प्रारम्भ होती है। इसी अवस्था में पूर्वरूप उत्पन्न होते हैं। संक्षेपतः स्थानसंश्रय में (१) दोषों का खवैगुण्य के स्थल पर रुकना, (२) दोषदूष्य सम्मूर्च्छना तथा (३) पूर्वरूपों की उत्पत्ति—ये तीन प्रमुख घटनायें हुआ करती हैं। खवैगुण्य निदान के एक अंश से उत्पन्न

होता है (निदान का प्रकरण देखें) । दोषदूष्य सम्मूर्च्छना दो प्रकार की होती है; भौतिक तथा रासायनिक; इसीको क्रमशः प्रकृति सम समवेत तथा विकृति विषम समवेत भी कह सकते हैं (विस्तार के लिए 'व्याधि' का प्रकरण देखें) । जब दोषदूष्य सम्मूर्च्छना हो रही होती हैं तब पूर्वरूप उत्पन्न होते हैं और जब सम्मूर्च्छना हो चुकी होती है तब रूप या लक्षण उत्पन्न होते हैं ।

पूर्वरूप :—

भविष्य में उत्पन्न होने वाली व्याधि के सूचक लक्षणों को पूर्वरूप कहते हैं । पूर्वरूप दो प्रकार का बतलाया गया है–

१. सामान्य पूर्वरूप तथा २. विशिष्ट पूर्वरूप ।

सामान्य पूर्वरूप :—

जिन लक्षणों (पूर्वरूपों) से केवल इतना ज्ञान हो सके कि अमुक रोग पैदा हो रहा है उसे सामान्य पूर्वरूप कहते हैं । इनसे यह ज्ञान नहीं होता है कि उस रोग का वातिक प्रकार होगा या पैत्तिक आदि ।

विशिष्ट पूर्वरूप :—

जिन लक्षणों से रोग के वातिक, पैत्तिक आदि के उत्पन्न होने का ज्ञान हो उन्हें विशिष्ट पूर्वरूप कहते हैं ।

उदाहरणार्थं सुश्रुत लिखित ज्वर के सामान्य और विशिष्ट पूर्वरूप ये हैं–श्रम, विवर्णता, वैरस्य, जृम्भा, अंगमर्द, गुरुता, लोम-

हर्ष, अरुचि आदि ज्वर के सामान्य पूर्वरूप हैं और जृम्भा—वातिक-ज्वर का, आंखों में दाह—पैत्तिक ज्वर का और अन्न की इच्छा न होना कफज ज्वर का विशिष्ट पूर्वरूप है। सामान्य पूर्वरूप के साथ विशिष्ट पूर्वरूप मिलते हैं। समय की दृष्टि से प्रथम सामान्य पूर्व-रूप और पश्चात विशिष्ट पूर्वरूप और तव रूप मिलते हैं। कुछ रोग आशुकारी होते हैं अतः उनमें पूर्वरूप वहुत कम समय तक रहते हैं और तुरन्त रूप उत्पन्न हो जाते हैं, अतः उनका ज्ञान कठिन हो जाता है। व्यावहारिक दृष्टि से देखें तो रोगी जव चिकित्सक के पास आता है तव रोग व्यक्त हो चुका होता है; उसके पूर्ण लक्षण प्रगट हो चुके होते हैं। साथ ही रोगी को पूर्वरूपों का पूरा ध्यान भी नहीं रहता। इसीलिए पूर्वरूपों का व्यावहारिक महत्व घट जाता है।

व्यक्ति :—

यह सम्प्राप्ति की पांचवीं अवस्था है। जव दोष दोष्य सम्मूर्च्छना पूर्ण हो चुकी होती है तव रोग स्पष्ट रूप से प्रगट हो जाता है। इसी अवस्था में उस रोग से लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। इस अवस्था में की जाने वाली चिकित्सा को 'पंचम क्रियाकाल' कहते हैं। दोष स्थानसंश्रय की अवस्था में किसी स्रोतस में कहीं भी आश्रय करके दोष दूष्य सम्मूर्च्छना करते हैं। इस सम्मूर्च्छना से उस स्रोतस में विकृति आ जाती है और उस स्रोतस की दुष्टि के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। अतः व्यक्ति की अवस्था में ही स्रोतो-दुष्टि के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

लक्षण :—

इसे 'रूप' भी कहते हैं। ये सम्प्राप्ति की 'व्यक्ति' की अवस्था

में उत्पन्न होते हैं। ये उत्पन्न हुए रोग के परिचायक हुआ करते हैं। पूर्वरूप की भाँति प्रत्येक रोग में सामान्य लक्षण तथा विशिष्ट लक्षण हुआ करते हैं। व्याधि को बताने वाला और उस व्याधि में सदा आवश्यक रूप से उपस्थित रहने वाले लक्षण को प्रत्यात्म लक्षण या प्रत्यात्मिक लक्षण या अव्यभिचारी लक्षण या रोग प्रतिनियत लक्षण कहते हैं—यथा; ऊष्मा का अधिक होना ज्वर में; प्रभूताविल मूत्रता प्रमेह में; पतले और अधिक दस्त आना अति- में; श्वासकष्ट श्वास रोग में इत्यादि। सामान्य लक्षणों से किसी विशिष्ट रोग का और विशिष्ट लक्षणों से उस रोग के भेदों का ज्ञान होता है। प्राय: प्रत्येक रोग के सामान्य और विशिष्ट लक्षण शास्त्रों में वर्णित यदि दोष दूष्य सम्मूर्च्छना भौतिक प्रकार की हुई हो तो प्रकृति सम समवेत लक्षण मिलते हैं और यदि रासायनिक प्रकार की हुई हो तो विकृति विषम समवेत लक्षण मिलते हैं। लक्षणों के आतुरवेद्य लक्षण (Symptoms) तथा चिकित्सक वेद्य लक्षण (Sign) इस प्रकार से भी दो भेद करते हैं।

भेद :—

यह सम्प्राप्ति की छठी अवस्था है। शल्य-शास्त्र में भेद का अर्थ है—रोग विदीर्ण होकर व्रणभाव को प्राप्त हो जाय। साधारणत: भेदावस्था शोथ आदि अवस्थाओं में व्रणभाव को बतलाती है और ज्वर, अतिसार आदि में जीर्णता को बतलाती है। इस अवस्था में की जाने वाली चिकित्सा महत्वपूर्ण होती है— यह चिकित्सा का छठा क्रियाकाल है।

६.

उपशय तथा अनुपशय

औषध, अन्न और विहार का परिणाम में सुखकर जो उपयोग हो उसे उपशय कहते हैं और इसके विपरीत को अनुपशय कहते हैं। उपशय को सात्म्य भी कहते हैं। जब किसी रोग का विनिश्चय करना कठिन हो रहा हो तब उपशय या अनुपशय से काम लिया जाता है। जिस रोग की आशंका हो, तद्वर्धक औषध, अन्न तथा विहार करने से यदि लक्षणों में वृद्धि हो तो वही रोग है यह विनिश्चय होता है। यदि आशंकित रोग को बढ़ाने वाले आहार विहार करें–अनुपशय करें–तब भी रोग बढ़ जाता है और रोग विनिश्चय होता है। यदि आशंकित रोग के शामक आहार, विहार—उपशय—किया जाय और वह रोग ठीक होने लगे तो उस रोग का विनिश्चय हो सकता है। इस सन्दर्भ में यह स्पष्ट समझना चाहिए कि उपशय और चिकित्सा; अनुपशय और निदान में केवल इतना अन्तर है कि एक (उपशय-अनुपशय) रोग विनिश्चयार्थ किया जाता है, दूसरा नहीं।

उपशय :—

उपशय के १८ भेद सोदाहरण समझें। साधारणतः जो औषध, अन्न और विहार रोग के हेतु के विपरीत हों, उसे हेतु विपरीत उपशय; जो व्याधि के विपरीत हों उसे व्याधि विपरीत उपशय; जो हेतु और व्याधि दोनों के विपरीत हों उन्हें हेतु व्याधि विपरीत; और जो अपने प्रभाव से रोग को शान्त करें उनको 'विपरीतार्थकारी' कहा जाता है।

१—हेतु विपरीत औषध, यथा—श्रम से उत्पन्न रोग में श्रम हर द्राक्षादि दशक (च. सू. ४)।

२— हेतु विपरीत अन्न—श्रम से उत्पन्न ज्वर में मांसरस।

३—हेतु विपरीत विहार—दिवास्वप्न जन्य कफवृद्धि में रात्रि जागरण।

४—व्याधि विपरीत औषध—कुष्ठ में खदिर, तमक श्वास में सोम, अभिसार में पाठा।

५—व्याधि विपरीत अन्न—अतिसार में स्तम्भन गुणयुक्त मसूर का यूप।

६—व्याधि विपरीत विहार—उदावर्त में प्रवाहण।

७—हेतु व्याधि विपरीत औषध—वातज शोथ में वातघ्न तथा शोथघ्न दशमूल।

८—हेतु व्याधि विपरीत अन्न—शीत से वृद्ध वातज ज्वर में उष्ण एवं ज्वरघ्न यवागू।

९—हेतु व्याधि विपरीत विहार—स्निग्ध दिवास्वप्न से उत्पन्न कफवृद्धि और तज्जन्य तन्द्रा में दोनों से विपरीत रात्रि जागरण।

१०—हेतु विपरीतार्थकारि औषध—कटुरस के अधिक उपयोग करने से उत्पन्न शुक्रक्षय में पिप्पली तथा शुण्ठी आदि वृष्य एवं कटु द्रव्य।

११—हेतु विपरीतार्थकारि अन्न—रूक्ष आहार से उत्पन्न शुक्रक्षय में रूक्ष और वृष्य कर्म करने वाले पुराने यव और गोधूम ।

१२—हेतु विपरीतार्थकारि विहार—कामज ज्वर में शोक या क्रोध ।

१३—व्याधि विपरीतार्थकारि औषध—वमन साध्य छर्दि में वमन-कारक मदनफल ।

१४—व्याधि विपरीतार्थकारि अन्न—वातातिसार में दूध ।

१५—व्याधि विपरीतार्थकारि विहार—छर्दि में वमन करने के लिए प्रवाहण ।

१६—हेतु व्याधि विपरीतार्थकारि औषध—कटु, अम्ल और उष्ण आहार से उत्पन्न पित्तवृद्धि में पित्तहर और अम्लरस वाले आँवले ।

१७—हेतु व्याधि विपरीतार्थकारि अन्न—मदात्यय में मद्य ।

१८—हेतु व्याधि विपरीतार्थकारि विहार—अति व्यायाम से उत्पन्न उरुस्तम्भ में पानी में तैरने का व्यायाम ।

७.

स्रोतो दुष्टि

स्रोतस सारे शरीर में व्याप्त हैं। सम्प्राप्ति में वताया जा-चुका है कि स्रोतसवैगुण्य (खवैगुण्य) के कारण जहाँ पर विकृत दोष रुक जाते हैं वहीं पर दोषदूष्य सम्मूर्च्छना होकर रोग हो जाता है। यह दोष दूष्य सम्मूर्च्छना उस स्रोतस को दुष्ट करते हैं जिससे स्रोतोदुष्टि के लक्षण प्रगट होते हैं। स्थान संश्रय की अवस्था में दोष दूष्य सम्मूर्च्छना होती है जिससे स्रोतोदुष्टि होकर 'व्यक्ति' की अवस्था उत्पन्न होती है। इस प्रकार प्रत्येक रोग में स्रोतोदुष्टि होती है और उसके लक्षण मिलते हैं। शास्त्रों में स्रोतोदुष्टि के चार सामान्य सिद्धान्त या लक्षण कहे गये हैं, यथा-अतिप्रवृत्ति, संग 'सिराग्रंथि और विमार्गगमन' इनमें से सिराग्रन्थि वहुत सीमित है—सिराग्रन्थि में स्रोतसों में रचना सम्वन्धी विकृति आ जाती है और इस दुष्टि का ज्वलन्त उदाहरण अर्श हैं। शेष तीन लक्षण प्रदुष्ट स्रोतस में रहने वाले दोष-दूष्य की अवस्था को वताते हैं।

अति प्रवृत्ति :—

सरल शब्दों में कहें तो जिस चीज की शरीर से स्वस्थावस्था में भी प्रवृत्ति (वाहर निकलना) होती है, उस चीज के अधिक मात्रा में और वार वार निकलने को 'अति प्रवृत्ति' कहते हैं, यथा—मल का वार वार अधिक निकलना मल की अति प्रवृत्ति और श्वास आदि मलवह स्रोतोदुष्टि का द्योतक है। इसी प्रकार मूत्र, स्वेद, श्वास आदि में भी समझें।

अति प्रवृत्ति निम्नलिखित कारणों से हो सकती है—

१—प्रवृत्त होने वाले दूष्य की मात्रा में वृद्धि, यथा—प्रमेह में मूत्र की वृद्धि से अतिप्रवृत्ति और अतिसार में पुरीष की वृद्धि से अति प्रवृत्ति ।

२—प्रवृत्त करने वाले स्रोतस की गत्यात्मक या निरोधात्मक शक्ति में वैषम्य, यथा—अतिसार में आन्त्रों का गत्यात्मक वैषम्य ।

३—आंशिक अवरोध होने के कारण दूष्य को निकालने के लिए बार बार प्रवृत्ति, यथा—अश्मरी में बार बार रुक रुक कर मूत्रत्याग ।

इस प्रकार अतिप्रवृत्ति का अर्थ है—बार-बार प्रवृत्ति अथवा/या अधिक मात्रा में प्रवृत्ति ।

संग :—

संग का अर्थ है—अवरोध या रुकावट । किसी भी स्रोतस में अवरोध होने से उस स्रोतस में रहने वाला दूष्य ठीक तरह नहीं घूम सकता है । परिणामत: स्थानिक क्षय तथा स्थानिकवृद्धि अथवा/या विमार्ग-गमन हो सकता है । श्वास, जलोदर, कास, ज्वर आदि व्याधियों में 'संग' होता है । संग निम्नलिखित कारणों से हो सकता है—

१—अवरोध प्राय: आम या सामकफ से होता है । आम अग्नि-मांद्य से उत्पन्न होता है, यथा श्वास, कामला, जलोदर तथा ज्वर में ।

२—अवयव की रचना सम्बन्धी विकृति से भी संग होता है; कोई स्रोतस शोथ या आघात से छोटा या तंग हो जाय। उदाहरणार्थ हृद्रोग, वद्धगुदोदर, यकृदाल्युदर।

३—समीपवर्ती अवयवों से दवाव पड़ने पर भी संग के लक्षण मिल सकते है, यथा—जलोदर में श्वासकष्ट, आध्मान में हृत्पीड़ा तथा श्वासकष्ट।

विमार्गगमन :—

किसी भी दोष-धातु-मल का अपने स्थान या मार्ग से पृथक किसी स्थान में जाना विमार्गगमन कहलाता है। उदाहरणार्थ—जलोदर में जल का उदर के त्वग्मांसाभ्यंन्तर एकत्रित होना जल का विमार्गगमन कहलाता है। रक्तपित्त में रक्त का बाहर निकलना रक्त का विमार्गगमन कहलाता है। विमार्गगमन के निम्नलिखित कारण हो सकते हैं—

१—स्रोतस में अवरोध होने के कारण, यथा—जलोदर में उदकवह स्रोतस में संग होने से उदक का विमार्गगमन होता है।

२—स्रोतस के टूट जाने से, यथा—उरःक्षत तथा अभिघातज रक्तस्राव में रक्त का विमार्गगमन।

३—स्रोतस की भित्ति के पतला हो जाने से, यथा—रक्तपित्त, शोथ आदि।

सिराग्रन्थि :—

इस विकृति में रचना सम्बन्धी विकृति होती है, विशेषतः सिराओं में। अर्श में मांसाकुरों का होना बताया गया है जिनको सिराग्रन्थि ही कहते हैं।

स्रोतोदुष्टि और खवैगुण्य में अन्तर :—

सम्प्राप्ति में कहा गया है कि दोष विभिन्न अवस्थाओं से गुजरकर रोग पैदा करते हैं। संचित दोषों का प्रकोप होता है; बाद में वे सारे शरीर में प्रसरण करते हैं और जहाँ खवैगुण्य मिलता है वहीं रुक जाते है और दोषदूष्य सम्मूर्च्छना करते है जिससे वह स्रोतस दुष्ट हो जाता हैं और रोग उत्पन्न हो जाता है। स्पष्ट है कि शरीर में घूमते हुए दोषों को बनावनाया खवैगुण्य मिलता है। यह खवैगुण्य निदान से उत्पन्न होता है। स्रोतोदुष्टि दोषदूष्य सम्मूर्च्छना जनित पदार्थ से होती है। स्रोतोदुष्टि और खवैगुण्य में अन्तर बताने के लिए संक्षिप्त तालिका दी जाती है—

खवैगुण्य	स्रोतो दुष्टि
१—यह दोष दूष्य सम्मूर्च्छना से पूर्व की अवस्था है।	१—यह दोषदूष्य सम्मूर्च्छना के बाद की अवस्था है।
२—यह दोषों के स्थानसश्रय के लिए आवश्यक है।	२—यह लक्षणों की व्यक्ति के लिए आवश्यक है।
३—यह निदान के एक विशिष्ट अंश से होता है।	३—निदान के अतिरिक्त दोष-दूष्य सम्मूर्च्छना से उत्पन्न होती है।
४—शास्त्रों में इसके ज्ञान के लिए कोई लक्षण निर्दिष्ट नहीं है, अतः खवैगुण्य का पूर्व ज्ञान कठिन है।	४—इसके ज्ञान के लिए स्रोतो दुष्टि के चार लक्षण बताये गये है।
५—स्रोतोदुष्टि के लक्षणों से इसके पूर्व-अस्तित्व का अनुमान होता है।	५—स्रोतोदुष्टि के लक्षणों से इसका ज्ञान और पूर्ववर्ती खवैगुण्य का अनुमान होता है।

रोग ज्ञान के उपाय :—

किसी भी रोग के निश्चित ज्ञान के लिए प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आप्तोपदेश वतलाये गये हैं। रोगी द्वारा वतलाई गई प्रधान वेदनाओं तथा परीक्षण द्वारा उपलब्ध सूचनाओं का समावेश 'प्रत्यक्ष परीक्षा' के अन्तर्गत होता है। जरणशक्ति से अग्नि की स्थिति का अनुमान; व्यायाम करने की शक्ति से वल का अनुमान —इस प्रकार की कई परीक्षायें 'अनुमान परीक्षा' के अन्तर्गत आती हैं। लक्षणों से भी दोषों की विकृति का अनुमान करते हैं। अन्त में आप्तोपदेश (शास्त्र) के आधार पर रोग विनिश्चय किया जाता है।

रोग परीक्षा तथा रोगी परीक्षा की जाती है। रोग की परीक्षा निदान पंचक से की जाती है। रोगी की परीक्षायें कई प्रकार की हैं—

(१) दर्शन—स्पर्शन—प्रश्न परीक्षायें (३)।
(२) पंच ज्ञानेन्द्रिय परीक्षायें। (५)।
(३) पंचज्ञानेन्द्रिय एवं प्रश्न परीक्षायें (६)।
(४) नाड़ी—मूत्र—मल—जिह्वा—शब्द—स्पर्श—दृक्—आकृति :—इनकी परीक्षायें (८)।
(५) प्रकृतित :—विकृतित :—सारत :—संहननत :—प्रमाणत :—सात्म्यत :—सत्वत :—देशत :—आहार शक्तित :—व्यायाम शक्तित :—वयत: परीक्षा की जाती है (१०)।

इस प्रकार रोग परीक्षा ५ प्रकार से—निदानादि से और रोगी परीक्षा ३, ५, ६, ८ तथा १० प्रकार से की जाती है।

———

८.

श्वास रोग

इस रोग में श्वास प्रश्वास की क्रिया में कष्ट या वाधा होती है। 'श्वास' प्राणवह स्रोतोदुष्टि का लक्षण है। प्राणवह स्रोतोदुष्टि के चार लक्षण बतलाये गये हैं। (च. वि. ६-८) । १. अति दीर्घ-श्वास, २. रुकते हुए श्वास आना, ३. थोड़ा थोड़ा या तीव्र श्वास आना तथा ४. शब्द और वेदना के साथ श्वास आना । प्राणवह स्रोतों की दुष्टि दो प्रकार की हो सकती है–

१—प्राणवह स्रोतों में विकृति (रचना सम्बन्धी विकृति) ।

२—प्राणवह स्रोतस्थ वात और कफ की दुष्टि और पश्चात उन्हीं से प्राणवह स्रोतोदुष्टि (क्रिया सम्ब्रन्धी विकृति) ।

प्राणवह स्रोतों की रचना या अवयव सम्बन्धी विकृति दो प्रकार से हो सकती है–

१—फुफ्फुस कोष्ठों का अति विस्फार ।

२—फुफ्फुस कोष्ठों तथा श्वसना का अवरोध ।

इन दोनों ही अवस्थाओं में वायु का विमार्गगमन होता है। यहाँ पर वात के विमार्गगमन से प्राणवायु का पूरी तरह से बाहर/अन्दर न जाकर फुफ्फुस कोष्ठकों में पड़ा रहना ही अभिप्रेत है।

प्राणवह स्रोतोवरोध दो प्रकार से हो सकता है—

१—निज कारण से–जिससे फुफ्फुस तथा श्वसना का शोथ हो। शोथ में रसधातु की दुष्टि होती है। अतः यदि प्रदुष्ट रस से अधिक कफ बने और उससे अवरोध हो जाय तो कफवृद्धि से श्वास तथा घर्घर वाक्यता लक्षण बतलाये गये हैं। कफ रस-धातु का मल है, अतः कई रसज व्याधियों में भी कफ के द्वारा प्राणवह स्रोतों में अवरोध होने पर श्वास लक्षण मिलता है।

२—आगन्तुक कारण से–किसी भी बाह्य पदार्थ, भोजन का अंश, मुंगफली, चना आदि से अवरोध हो सकता है। प्राणवह स्रोतों के समीपस्थ अवयवों में विकृति और उससे फुफ्फुस पर दबाव पड़ने से भी अवरोधात्मक लक्षण हो सकते हैं, यथा जलोदर तथा आनाह में श्वास।

श्वास लक्षण रूप में किन अवस्थाओं में मिलता है—

१—आमाशयिक विकृति में–कारण कि आमाशय कफ का स्थान है और कफ से प्राणवह स्रोतों में अवरोध होने पर श्वास हो सकता है।

२—अत्यधिक अग्निमांद्य और आम प्रधान व्याधियों में।

३—प्राणवह स्रोतोमूल हृदय की व्याधि में।

४—रसदूष्य वाली कुछ व्याधियों में—कारण कि प्रदुष्ट रस से अधिक कफ का निर्माण हो सकता है और उससे प्राणवह स्रोतोवरोध होकर श्वास हो सकता है।

५—व्यायाम, भारवहन एवं अधिक चलना आदि से भी वातप्रकोप होकर श्वास हो सकता है।

६—प्राणवह स्रोतों में किसी भी प्रकार की आवयविक या रचना सम्बन्धी विकृति (यथा—शोथ, कोथ, संकोच) से भी श्वास हो सकता है।

साधारणतः अधोलिखित व्याधियों में श्वास लक्षण के रूप में मिलता है—

पाण्डु, जलोदर, आध्मान, हृद्रोग, सान्निपातिक ज्वर, राजयक्ष्मा, क्षतज कास, आमाशयगत वात, त्रिदोषजर्छर्दि, कण्ठशुण्डी, तालुपाक, मेदोवृद्धि, प्लीहोदर या यकृद्दाल्युदर, अतिसार तथा विषूचिका।

इन सभी रोगों में आगे रेखाचित्र में दी गई घटनाओं में से कोई न कोई घटना (विकृति) अवश्य उपस्थित रहती है, जिससे इनमें 'श्वास' उत्पन्न होता है।

उपर्युक्त सभी घटनाओं या सम्भावनाओं को अग्रलिखित रेखाचित्र से समझिए—
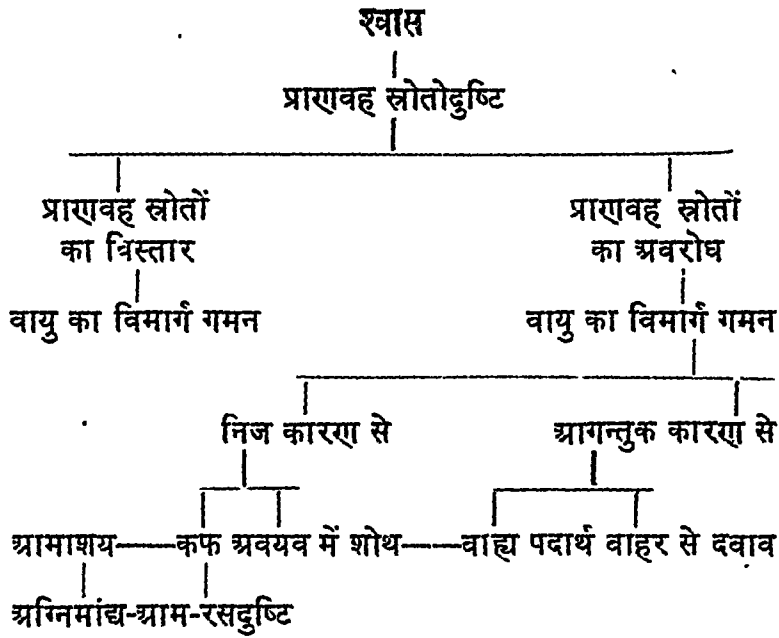
श्वास रोग का निदान :

१—विदाहि, गुरु, विष्टम्भी, रूक्ष तथा अभिष्यन्दि भोजन का अधिक सेवन करना। (अग्निमांद्योत्पादन)

२—शीतल स्थान तथा शीतल अन्नपान का सेवन। (वात प्रकोपक)

३—धूल, धुआं, गर्मी या वायु का अति सम्पर्क। (प्राणवह स्रोतो-दुष्टिकर)

४—अति व्यायाम। (वात प्रकोपक)

५—अधिक चलना अधिक भार वहन। (वात प्रकोपक)

६—वेग धारण करना। (वात प्रकोपक)
७—अपतर्पण। (वात प्रकोपक)

सम्प्राप्ति :-

कफयुक्त वात प्राणवह स्रोतों को अवरुद्ध करके वहाँ पर रुककर विपरीत गति (विमार्ग गमन) करता है जिससे श्वास रोग उत्पन्न होता है।

दोष—कफानुगत वात। दूष्य—रस।
स्रोतस—प्राणवह स्रोतस। स्रोतोदुष्टि लक्षण—संग, विमार्ग गमन।
आमाशयोत्थ व्याधि है। चिरकारी व्याधि।

निदान—< वातदुष्टि
अग्निमांद्य——कफवृद्धि——प्राणवह स्रोतोवरोध
आम— रसदुष्टि प्राणवायु का विमार्ग गमन
श्वास
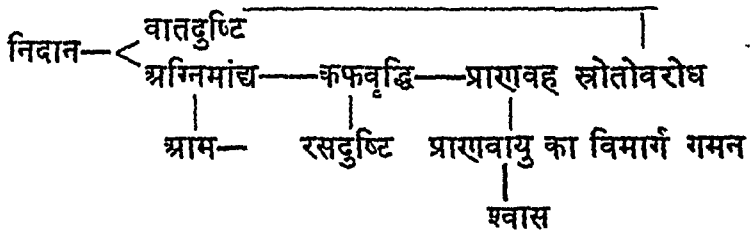
विवेचन—

श्वास का रोगी तीन प्रधान वेदनाओं के साथ आतुरालय में आता है श्वास, कास एवं कफष्ठीवन। कफ निकलने से दो बातों का ज्ञान होता है—या तो कफ दोषरूपेण उपस्थित है या रस दुष्टि है जिससे मलभूत कफ का अधिक निर्माण हो रहा है। 'कास' उसी कफ को प्राणवह स्रोतस से बाहर निकालने के लिए एक स्वाभाविक क्रिया है। 'श्वास' प्राणवह स्रोतस में किसी

अवरोध के कारण प्राणवायु के यातायात में बाधा का प्रतीक है। शरीर के किसी भी स्रोतस में संग साधारणतः कफ या आम से होता है। श्वास रोग में कफ भी निकलता है, अतः कफ दोषरूपेण उपस्थित होता है। वात का विमार्गगमन होने से वात भी दोष-रूपेण उपस्थित होता है। अग्निमांद्य के कारण आम भी बनता है। कफ या आम का प्रधान स्थान आमाशय है, अतः श्वास आमा-शयोत्थ व्याधि है। श्वास में दूष्य रस होता और उससे कफ बनता रहता है, और वह कफ अवरोध उत्पन्न करता रहता है जिससे श्वास हो जाता है।

श्वास के किसी रोगी में वात के अधिक लक्षण मिलते हैं और किसी में कफ के। कफाधिक्य की अवस्था में फुफ्फुस की श्रवण परीक्षा करने पर आर्द्र-ध्वनि और वाताधिक्य की अवस्था में शुष्क-ध्वनि मिलती है।

भेद :—

श्वास ५ प्रकार का होता है। महाश्वास, ऊर्ध्वश्वास, छिन्न-श्वास, तमक श्वास (संतमक और प्रतमक) तथा क्षुद्रश्वास। महा और ऊर्ध्वश्वास कष्टसाध्य या असाध्य होते हैं और ये प्रकार मृत्यु के समय अधिक मिलते है। छिन्नश्वास भी शल्य कर्म के समय या अधिक व्यामिश्र कारणों से उत्पन्न होता है। यह भी कम मिलता है। क्षुद्रश्वास वस्तुतः दुर्बलता या आशुकारी कारणों से उत्पन्न लक्षण रूप श्वास है। तमकश्वास दो प्रकार का होता है—संतमक और प्रतमक, जिनके लक्षण आगे बतलाये गये हैं। तमक के रोगी बहुत मिलते हैं।

लक्षण—

श्वास

	महाश्वास	ऊर्ध्वश्वास	छिन्नश्वास	तमकश्वास	क्षुद्रश्वास
१.	श्वास ऊंचा, लम्बा एवं शब्द युक्त	वहिःश्वसन गहरा और लम्बा तथा अन्तःश्वसन में कठिनता	रुक रुककर वल लगाने पर ही श्वास क्रिया	धुर्घुर शब्द युक्त श्वास	व्यायाम आदि से थोड़ी देर के लिए श्वास का तीव्र होना और कष्ट होना
२.	नेत्र विभ्रांत एवं चंचल	मूर्छा	मर्मच्छेदवत् वेदना	कास	—
३.	ज्ञान विज्ञान का नाश	वेदना	पार्श्वशूल	कफष्ठीवन	—
४.	श्वास का शब्द दूर से ही सुनाई देता है।	—	आनाह	कफ निकलने के वाद कुछ आराम	—
५.	—	—	मूर्छा और चेतना का नाश	लेटने पर श्वास बढ़ता है	—
६.	—	—	—	निद्रानाश	—
७.	—	—	—	श्वास धौंकनी की तरह चलता है।	—

तमक श्वास
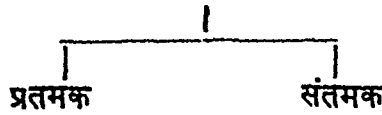
प्रतमक	संतमक
१. श्वास	१. श्वास
२. ज्वर	२. तम से अधिक वढ़ता है।
३. मूर्च्छा	३. रोगी अपने आप को अंधकार में डूबा हुआ सा अनुभव करता है।
	४. शीत उपचार से शान्ति मिलती है।

साध्यासाध्यत्व :-

साध्य—क्षुद्रश्वास। *कृच्छ्रसाध्य*—तमकश्वास।
असाध्य—महाश्वास, ऊर्ध्वश्वास, छिन्नश्वास।

चिकित्सा :—

चिकित्सा के दृष्टिकोण से श्वास के रोगियों को दो भागों में बाँटा जा सकता है—

१—बलवान या कफाधिक्य।

२—दुर्बल या वाताधिक्य।

बलवान या कफाधिक्य में अपतर्पण चिकित्सा, वमन, विरेचन, तथा श्वासनाशक योग देने चाहिये।

दुर्बल या वाताधिक्य में संतर्पण चिकित्सा, वातनाशक उपचार, श्वासनाशक योगों तथा मांसरसों का प्रयोग करना चाहिये।

१—श्वास पीड़ित व्यक्ति को लवणयुक्त तैल की मालिश करके स्वेदन कराना चाहिये।

२—स्वेदनोपरांत रोगी को मछली के मांसरस के साथ घृत से स्निग्ध ओदन (भात) खिलाना चाहिये।

३—यदि या जब उपर्युक्त आहार से कफ बढ़ जाय तब रोगी को पिप्पली, सैंधव लवण तथा मधु से युक्त कोई वामक औषध देनी चाहिए।

४—वमनोपरांत भी यदि प्राणवह स्रोतों में कफ की उपस्थिति के लक्षण हों तो रोगी को कफनाशक औषधियों की धूम्रवर्तिका बनाकर धूम्रपान कराना चाहिये। श्वास आमाशयोत्थ व्याधि है और वमन से आमाशय की शुद्धि हो जाती है और कफ भी बाहर निकल जाता है। धूम्रपानार्थ पद्माख, गुग्गुल और अगर में से किसी एक की लकड़ी को घृत में भिगोकर धूम्रपान कराना चाहिये।

५—यदि वमन के अतियोग से वायु की वृद्धि हो जाय तो वातशामक मांसरस या स्नेहों का प्रयोग करें।

६—दुर्बल पुरुष का बृंहण करना चाहिये। एतदर्थ मोर, तीतर, मुर्गा तथा जांगल पशुपक्षियों का मांसरस देना चाहिये।—

संक्षेपतः श्वास में :—

१—अग्निमांद्य और आमदोष होता है। अतः दीपन-पाचन द्रव्यों का या ऐसे योगों का, जिनमें दीपन-पाचन द्रव्य हों, प्रयोग करना चाहिये।

२—श्वास में कफ और वात दोष रूपेण रहते हैं, अतः वातशामक तथा कफनिष्कासक द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये।

३—श्वास में स्रोतों की दुष्टि होती है, अतः प्राणवह स्रोतों पर कार्यकारी द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये।

४—अन्य व्याधियों के लक्षण स्वरूप श्वास होवे तो उन्हीं की चिकित्सा से श्वास शान्त हो जाता है।

आजकल व्यवहार में प्राय: तमक श्वास के रोगी अधिक आते हैं। तमक श्वास के प्रबल वेग के समय कनकासव १ तोला समान मात्रा में पानी मिलाकर देने से क्षणिक लाभ अवश्य मिलता है। श्वास रोग में श्वास कुठार रस, कट्फलादि चूर्ण तथा सोमकल्प का पुष्कल प्रयोग देखा जाता है। कफप्रधान तमक श्वास में—श्वास कुठार ४ रत्ती, सूतशेखर ४ रत्ती, कर्पूरादि चूर्ण १ माशा, एक मात्रा। ऐसी तीन मात्रा दिन में ३ वार मधु के साथ देनी चाहिये।

वातप्रधान तमक श्वास में—मल्लसिंदूर १ रत्ती, अभ्रक भस्म ४ रत्ती, शृङ्ग भस्म ४ रत्ती, नागगुटिका १ गोली, १ मात्रा। ऐसी तीन मात्रा दिन में तीन वार मधु या शृंग्यादि क्वाथ के साथ देनी चाहिये।

श्वास रोग में कफ को वाहर निकालने के लिए अन्य या किसी भी श्वासनाशक योग के साथ नृसार या श्वेत पर्पटी या यवक्षार देना चाहिये।

श्वास (Eosinophelia) में—घृतभृष्ट हरिद्रा २ माशा, रस सिन्दूर ३ रत्ती, एक मात्रा। ऐसी तीन मात्रा दिन में तीन वार मधु या कण्टकार्यादि क्वाथ के साथ देने से वहुत लाभ होता है।

पथ्य—पटोल, कुलत्थ, शालि, यव, गोधूम, पक्व कपित्थ, मस्तुलुंग, अजादुग्ध, उष्णोदक, मद्य, लशुन, मधु, निद्रा, एण, तीतर, लावा आदि का (जांगल) मांस।

अपथ्य—अम्ल, तैलभृष्ट वस्तु, निष्पाव, माष, पिण्याक, आनूप मांस, तुम्बीफल, कन्द, गुरु एवं शीत अन्नपान।

९.

कास रोग

कास के सम्वन्ध में विचार करते समय निम्नलिखित वातों पर ध्यान देना चाहिये—

(१) कास प्रधान लक्षण के रूप में उपस्थित है या अप्रधान लक्षण के रूप में अर्थात् कास लक्षण रूप है या व्याधिरूप ।

(२) कास में किस प्रकार का शब्द होता है । (शब्द वैपम्य)

(३) कास वेदनायुक्त है अथवा वेदनारहित अर्थात् खाँसते समय रोगी के उरस में वेदना होती है या नहीं ।

(४) कास शुष्क है या आर्द्र अर्थात् कास के साथ कफ निकलता है या नहीं ।

(५) कफ की गन्ध, वर्ण तथा स्पर्श परीक्षा करनी चाहिये ।

उपर्युक्त वातों पर विचार करने से कासरोग के निदान करने में वहुत सहायता मिलती है । प्रत्येक लक्षण व्याधि के रूप में भी उपस्थित हो सकता है और केवल किसी रोग के लक्षण रूप में भी । कास कई व्याधियों में लक्षण रूप में भी मिलता है, परन्तु लक्षण रूपात्मक कास रोगी की प्रधान वेदना नहीं होती है । कासरोग में रोगी को प्रधान वेदना 'कास' होती है । कास चाहे कैसा भी हो और किसी भी कारण से हो, उसमें कास को उत्पन्न करने के लिये आवश्यक विकार अवश्य मिलता है ।

कास 'कासृ कुशब्दे' धातु से निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है कि कास में कुशब्द होता है। कुशब्द होने से स्वतः अनुमान होता है कि प्राकृत शब्द की उत्पत्ति के लिए जो दोष और अवयव उत्तर-दायी हैं, उनको इसमें (कास में) दुष्टि होनी चाहिये। शब्द की उत्पत्ति के लिये दोषों में प्राणवायु तथा उदानवायु और अवयवों में उरस तथा कण्ठ उत्तरदायी हैं।

प्राण के स्थान हैं—मूर्धा, उरस और कण्ठ। उरस और कण्ठ दोनों वात सामान्य के अधिष्ठान भी हैं और वहाँ पर प्राण एवं उदान सर्वदा विद्यमान रहते हैं। वाक्–प्रवृत्ति उदानवायु का कार्य बतलाया गया है, इसमें कण्ठ विशेष भाग लेता है। जब प्राणवायु उदान वायु के साथ मिलकर कण्ठ से वेग के साथ निकलती है तब कुशब्द होता है।

अतएव कहा है कि 'प्राणवायु जब उदानानुगत होकर तीव्र-वेग के साथ मुख से कुशब्द करता हुआ बाहर निकलता है, तब उसे 'कास' कहते हैं।

उपर्युक्त बातों से ज्ञात होता है कि कास की उत्पत्ति के लिए निम्नलिखित दुष्टियाँ होती हैं—

१—कण्ठ और उरस में विकृति, यह विकृति निज और आगन्तुक कारणों से हो सकती है।

२—उदानवायु और प्राणवायु की दुष्टि। इनकी दुष्टि दो प्रकार से हो सकती है। या तो मिथ्या आहार विहार से इनकी वृद्धि हो या इनकी गति (मार्ग) में किसी प्रकार का अवरोध

हो जाय । यह अवरोध अवयव की विकृति से या कफ के कारण हो सकता है । कफ का स्थान उरस भी है अतः बढ़ा हुआ कफ भी प्राण या उदान के मार्ग को रोककर कास उत्पन्न कर सकता है । कफ रसधातु का मल बतलाया गया है और रसदुष्टि से अधिक कफ बन सकता है जो अवरोध कर सकता है । अतः रस-दुष्टि से भी कास हो सकता है । इस प्रकार जिस किसी व्याधि में कास मिलेगा, उसमें निम्नलिखित विकृतियों में से कोई न कोई विकृति अवश्य उपस्थित होगी—

१—प्राणवह स्रोतस में विकृति (शोथ आदि) ।

२—प्राणवायु या उदानवायु की वृद्धि ।

३—प्राणवह स्रोतस में कफ या अन्य किसी कारण से अवरोध ।

४—रसदुष्टि और उससे अधिक कफ का निर्माण तथा प्रवृद्ध कफ से अवरोध ।

५—रसवह और प्राणवह स्रोतोमूल हृदय में विकार ।

६—प्राणवह स्रोतस के किसी भी अवयव में शोथ ।

प्रायः तीस व्याधियों में कास लक्षण के रूप में बतलाया गया है और उन सबमें उपर्युक्त कारणों में से कोई न कोई कारण अवश्य उपस्थित रहता है । इस प्रकरण में यह स्मरणीय है कि किसी भी व्याधि के पैत्तिक प्रकार में कास लक्षण नहीं बतलाया गया है, कारण की उपर्युक्त कासोत्पादक घटनाचक्र में पित्त का सीधा कोई स्थान नहीं है ।

लक्षण रूप में कास अधोलिखित व्याधियों में मिलता है— वालकफज्वर, रक्ताश्रित ज्वर, मज्जागत ज्वर, कफ प्रधान सन्निपातिक ज्वर, कफजगुल्म, वातोदर, कफोदर, प्लीहोदर, बद्धगुदोदर, जलोदर, वातोल्वण अर्श, श्लैष्मिक ग्रहणी, तमक श्वास, वातज छर्दि, श्लैष्मिक विसर्प, ग्रंथिक विसर्प, हृद्रोग, आमाशयगत दुष्ट वात, उरःक्षत, राजयक्ष्मा, कण्ठशुण्डी, कण्ठशालूक तथा यकृदाल्युदर।

कास में शब्द वैषम्य वायु कितने वेग से निकालता है या अवरोध कितना है, इस पर निर्भर करता है (च. चि. १८-८)। अवयव में विकृति की न्यूनाधिकता तथा दोष एवं अवरोध की प्रवरावरता से कास में शब्द वैषम्य उच्च, मन्द, तीव्र, कफयुक्त, स्वरभेदयुक्त तथा वाग्ग्रह युक्त हो सकता है। अवरोध के प्रवल होने के कारण या अवयव में विकृति आने से कास के समय रोगी के उरःशूल होता है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कास या तो वातवृद्धि से या कफ के द्वारा वायु के मार्ग में अवरोध होने के कारण होता है। अतः कास शुष्क या आर्द्र-इन दो प्रकार का हो सकता है (च. चि. १८-७)। अवरोधजन्य कास आर्द्र और केवल वातवृद्धिजन्य कास शुष्क होगा।

कास में जो कफ निकलता है वह विकृत होता है और उसकी परीक्षा से निदान में सहायता मिलती है।

कफ परीक्षा :—

गंध—क्षतज और क्षयज कास में दुर्गन्धित। वर्णक्षतजकास, उरःक्षत, साहसज यक्ष्मा और क्षयज कास में रक्तमिश्रित कफ।

क्षतज कास में पूययुक्त कफ भी निकल सकता है। ज्वरादि व्याधियों में श्वेत या पीत कफ निकलता है।

कास रोग की विकृतियाँ इस रेखाचित्र से समझिये—
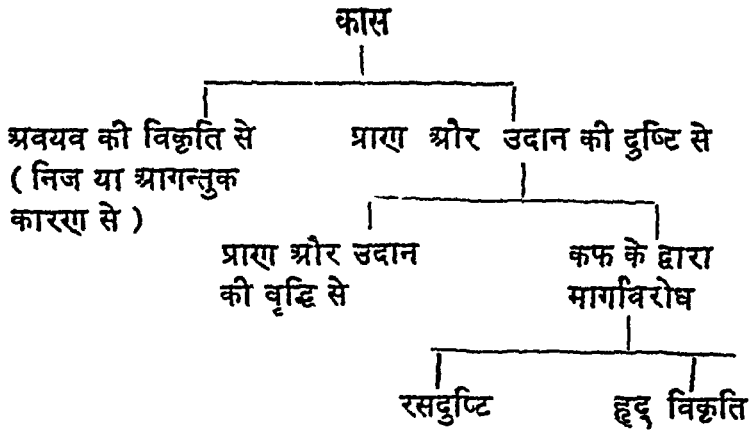
कास रोग के सामान्य निदान :—

१—धुआँ। २—रजकणों का श्वासमार्ग में जाना।
३—व्यायाम। ४—रूक्ष अन्न का अति सेवन।
५—वेगरोध। ६—छींक को रोकना।
७—भोजन के अंश का श्वासमार्ग में जाना।

कास के पूर्वरूप :—

१—शूकपूर्ण गलास्यता—अर्थात् गले और मुख में ऐसा मालूम होता है जैसे कि किसी धान्य का शूक अटक गया हो।

२—कण्ठ-कण्डू।

३—भोजन के निगलने में कठिनाई।

कास के भेद :—

कास पांच प्रकार का बतलाया गया है। वातज, पित्तज, कफज, क्षतज एवं क्षयज।

लक्षण—

कास

	वातज	पैत्तिक	कफज	क्षतज	क्षयज
१.	हृदय, शंख मस्तिष्क पार्श्वशूल	उराविदाह	मुख कफ-लिप्त	प्रथम शुष्क-कास और तब रक्तष्ठीवन	सारे शरीर में शूल
२.	मुखक्लश	मुखशोष, तिक्त मुखता	शिरोरुक	कण्ठ एवं उरस में शूल	ज्वर, मोह
३.	बल, स्वर, ओज-क्षय	ज्वर, तृषा पाण्डु	अरुचि	छाती में भेदनवत् शूल	दाह
४.	कास अधिक वेग से	दाहयुक्त, कटुरस, पीत-वर्ण का वमन	कण्ठकण्डू	ज्वर, तृषा, श्वास	क्षीणमांस
५.	स्वरभेद, शुष्ककास	—	सांद्रका फष्ठीवन	स्वरभेद, पर्वभेद, कपोत-वत् कूजन	रक्तष्ठीवन पूययुक्त-रक्तष्ठीवन

विभेदक निदान :—

निम्नलिखित कोष्ठक में क्षतज कास, साहसज यक्ष्मा और उर:क्षत में समानता तथा भिन्नता दिखाई गई है।

क्षतज कास	साहसज यक्ष्मा	उर:क्षत
१—कास	कास	कास
२—रक्तष्ठीवन	रक्तष्ठीवन	रक्तष्ठीवन
३—समान निदान	समान निदान	समान निदान
४—चिरकारी	चिरकारी	आशुकारी
५—रोगी दुर्बल	रोगी दुर्बल	रोगी पुष्ट एवं बलवान
६—उर:क्षत का पूर्वेतिहास	उर:क्षत का पूर्वेतिहास	उर:क्षत का समीपस्थ इतिहास
७—कास, प्रधान वेदना के रूप में	यक्ष्मा के अन्य लक्षण	उर:शूल और रक्तष्ठीवन प्रधान लक्षण के रूप में

वातजकास चिकित्सा :—

(१) वातज कास में सर्वप्रथम स्नेहों से उपचार करना चाहिये। घृत सेवन, वस्ति प्रयोग, पेय, यूष, क्षीर तथा मांसरस दें। वातनाशक औषधि से साधित स्नेह, धूम, लेह आदि का तथा अभ्यंग, परिषेक एवं स्निग्ध स्वेदो का प्रयोग करना चाहिये।

(२) वस्ति का प्रयोग उन रोगियों में करना चाहिए जिनका मल शुष्क और कठिन आता हो तथा जिनके कोष्ठ में वात प्रकोप के लक्षण मिलें।

(३) कण्टकारी घृत, पिप्पल्यादि घृत, श्यूपणाद्य घृत एवं रास्ना घृत का प्रयोग करना चाहिये ।

(४) विडंगादि चूर्ण, द्विक्षारादि चूर्ण, शुंठ्यादि चूर्ण, दुरालभादि लेह, दुस्पर्शादि लेह, विडंगादि लेह, चित्रकादि लेह तथा अगस्त्य हरीतकी का प्रयोग करना चाहिये ।

(५) मनःशिलादि धूम, प्रपौण्डरीकाद्य धूम्रवर्ति तथा इंगुदी त्वगादि धूम का प्रयोग किया जा सकता है ।

(६) दालचीनी, मुलहठी, सौंफ तथा द्राक्षा—इनको समान मात्रा में मिलाकर २ माशा की मात्रा में दिन में तीन बार पानी से देना चाहिये ।

पैत्तिक कास चिकित्सा :—

१—कफयुक्त पैत्तिक कास में वमन और केवल पैत्तिक कास हो और कफ गाढ़ा या अति तरल हो तो विरेचन कराना चाहिये ।

२—वमन या विरेचन के पश्चात् पेय देकर संसर्जन कर्म करना चाहिये ।

३—निम्नलिखित अवलेहों में से किसी एक का प्रयोग घी और मधु के साथ करना चाहिये—

(१) सिंघाड़ा, पद्मबीज, नीलीमूल, प्रसारिणी, पिप्पली ।

(२) पिप्पली, मोथा, मुलहठी, द्राक्षा, दूर्वा मूल, सोंठ ।

(३) लाजा, आँवला, मुनक्का, वंशलोचन, खाँड, पिप्पली ।

(४) पिप्पली, पद्माख, मुनक्का, बृहती फल रस ।

(५) पिंडखजूर, पिप्पली, वंशलोचन, गोक्षुर ।

४—शर्करादि लेह, त्वगादि लेह तथा पिप्पलादि लेह का भी प्रयोग किया जा सकता है ।

५—कफ गाढ़ा होवे तो तिक्त रस वाले लेह मधु के साथ देना चाहिये और यदि कफ पतला होवे तो शालि तथा षष्टिक के अन्न को मांसरस के साथ देना चाहिए ।

६—सूतशेखर ४ रत्ती तथा कर्पूरादि चूर्ण १ माशा मिलाकर एक मात्रा बनानी चाहिये । इससे बहुत लाभ देखा गया है ।

कफजकास चिकित्सा :—

(१) प्रथम वमन कराकर शोधन करना चाहिए । कफ को नष्ट करने वाले कटु, रूक्ष एवं उष्ण जौ (यव) के अन्न का सेवन करना चाहिये ।

(२) पुष्कर मूलादि पानीय, कट्फलादि पानीय, दार्व्यादि लेह तथा पिप्पल्यादि लेह का प्रयोग करना चाहिये ।

(३) सोंठ, अतीस, मोंथा, काकड़ासिंगी, हरड़, कचूर—इन्हें हींग और सेंधा नमक के साथ गरम जल में मिलाकर रोगी को पिलाना चाहिये ।

(४) निम्नलिखित लेहों में से कोई एक चुन लें और उसका प्रयोग करें—

१—हरड़, आमलकी, नागरमोथा, पिप्पली ।

२—पिप्पली, पिप्पलीमूल, गजपिप्पली, चित्रक ।

३—देवदारु, हरड़, मोथा, पिप्पली, सोंठ ।

४—इन्द्रायण की जड़, पिप्पली, मोथा, निसोत ।

(५) सोवर्चलादि चूर्ण, दशमूलादि घृत, कण्टकारी घृत तथा कुलत्थादि घृत का प्रयोग करना चाहिये ।

(६) रससिंदूर २ रत्ती तथा भर्जित टंकण १ रत्ती मिलाकर एक मात्रा बनायें । ऐसी तीन मात्रा दिन में तीन वार मधु के साथ देने से लाभ होता है ।

क्षतजकास चिकित्सा :—

(१) वलवर्धक एवं मांसवर्धक आहार देना चाहिये । मधुर तथा जीवनीय द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये ।

(२) पिप्पल्यादि लेह का प्रयोग करना चाहिये ।

(३) पित्तज काज की सभी औषधियाँ प्रयुक्त करें ।

(४) दूध, घी और मधु का पर्याप्त प्रयोग करें ।

(५) मांसरसों का प्रयोग करना चाहिये ।

(६) लाक्षा चूर्ण १ माशा, प्रवाल भस्म ४ रत्ती, सितोपलादि चूर्ण १ माशा । एक मात्रा । ऐसी तीन मात्रा च्यवनप्राश आधा तोला के साथ देना चाहिये ।

क्षयजकास चिकित्सा :—

दुर्बल रोगी का क्षयज कास असाध्य होता है ।

१—नवीन क्षयज कास में वृंहण और अग्निदीपन चिकित्सा करनी चाहिये ।

२—दोषों के प्रवल होने पर स्नेहयुक्त मृदुविरेचन देना चाहिए । साधारणतः क्षय में विरेचन निषिद्ध है ।

३—अमलतास की फलमज्जा, अंगूर का रस, निसोत अथवा तिल्वक का क्वाथ—इन क्वाथों में से किसी एक से गव्य घृत को यथाविधि साधित कर रोगी को पिलाना चाहिए । इससे शोधन ठीक प्रकार से होता है ।

४—मांसभक्षी पशुओं के मांसरस का प्रयोग करें ।

५—द्विपंचमूलादि घृत, गुडूच्यादि घृत, कासमर्दादि घृत, हरीतकी लेह, द्राक्षादि लेह, पद्मकादि लेह तथा जीवन्त्यादि लेह का प्रयोग करना चाहिये ।

६—अधिक कास होने पर कालीमिर्च के चूर्ण को घी, मधु और शर्करा के साथ चटाना चाहिये ।

७—वातघ्न औषधियों के क्वाथ से साधित दूध तथा मांसरस का प्रयोग करना चाहिए ।

८—अग्निदीपन, वृंहण तथा स्रोतोशुद्धि-कर कर्म करने चाहिए ।

९—वंग भस्म, हरिण शृंग भस्म, प्रत्येक ४-४ रत्ती। एक मात्रा। ऐसी तीन मात्रा दिन में तीन वार च्यवनप्राश आधा तोला के साथ देना चाहिए।

साधारण कास में जो गले या कण्ठ की सूजन से या प्रतिश्याय से हो, लवंगादि वटी, एलादि वटी, मरीच्यादि वटी, वासादि चूर्ण, वासावलेह का भी प्रयोग लाभदायक होता है।

पथ्य—लाजा, शालि, गोधूम, माष, मुद्ग, कुलत्थ के यूष, लशुन, द्राक्षा, दाडिम, अजाक्षीर, उष्णोदक तथा जांगल मांस।

अपथ्य—स्निग्ध-मधुर अन्न, मिष्टान्न, दही, दूध, धूम्रपान, दिवास्वप्न एवं मैथुन।

—

१०.

हिक्का

शास्त्रों में हिक्का और श्वास के निदान समान लिखे हैं। चरक ने हिक्का और श्वास को एक ही अध्याय में लिखा है तथा दोनों के निदान, सम्प्राप्ति तथा चिकित्सा भी समान बतलाई गई है श्वास की भाँति हिक्का में भी वात और कफ प्रधान दोष होते हैं (च. चि. १७/६) और यह भी एक आमाशयोत्थ व्याधि है। अतः अग्निमांद्योत्पादक, वात प्रकोपक तथा कफप्रकोपक आहार विहार हिक्का के निदान बन सकते हैं। अम्ल तथा कटुरस के अधिक सेवन से हिक्का का होना व्यवहार में देखा ही जाता है। चरक ने निम्नलिखित व्याधियों में हिक्का का होना बतलाया है—अतिसार, ज्वर, छर्दि, प्रतिश्याय, उरःक्षत, क्षय, रक्तपित्त, उदावर्त, विशूचिका, अलसक, पांडुरोग (च. चि. १७/१२, १३)। श्वास रोग निदान और सम्प्राप्ति ही हिक्का के निदान और सम्प्राप्ति भी समझने चाहिए (च. चि. १७/१३), परन्तु हिक्का की विशिष्ट सम्प्राप्ति में कफयुक्त वायु के द्वारा प्राणवह, अन्नवह एवं उदकवह स्रोतो का दुष्ट होना बतलाया गया है (च. चि. १७/२०) यह इस बात की ओर संकेत करता है कि हिक्का प्राणवह स्रोतस की, अन्नवह स्रोतस की तथा उदकवह स्रोतस की विभिन्न व्याधियों में मिल सकती है।

निदान :—

श्वास रोग के समान।

सम्प्राप्ति :—

स्वनिदान से प्रकुपित कफयुक्त वात प्राणवह अन्नवह एवं उदकवह स्रोतों को दुष्ट करके हिक्का उत्पन्न करता है।

पूर्वरूप :—

१—छाती और कण्ठ में गुरुता।

२—मुख का स्वाद कषाय रस का होना।

३—कुक्षि में आटोप। ४—किसी काम में मन न लगना।

भेद :—

हिक्का पाँच प्रकार की होती है-महा हिक्का, गम्भीरा हिक्का, व्यपेता हिक्का, क्षुद्रा हिक्का, अन्नजा हिक्का। हिक्का के भेद विशिष्ट लक्षणों के आधार पर किये हैं। महाहिक्का महावेग एवं महाशब्द वाली, गम्भीरा हिक्का गम्भीर ध्वनियुक्त और प्राण-नाशक, व्यपेता (यमला) हिक्का वेग के साथ और भोजन के पचने पर बढ़ने वाली, क्षुद्रा हिक्का का मृदु होना तथा अन्नजा हिक्का में भोजन में गड़बड़ी होने से हिक्का का होना अभिप्रेत है। व्यपेता हिक्का को यमला भी कहते हैं। व्यपेता का अर्थ है-परिणामवती, अर्थात् भोजन के आहार रस में परिणत होने पर उत्पन्न होने वाली हिक्का। सुश्रुत ने यमला हिक्का में एक बार में एक साथ दो हिक्काओं का होना लिखा है। यमला हिक्का का समावेश व्यपेता हिक्का में किया जा सकता है। वृद्धवाग्भट ने व्यपेता और यमला हिक्का के लक्षणों को एक साथ मिलाकर लिखा है।

लक्षण—

हिक्का

महा हिक्का	गम्भीरा हिक्का	व्यपेता हिक्का	क्षुद्रा हिक्का	अन्नजा हिक्का
१. हिक्का सतत होती है।	हिक्का गंभीर प्रतिध्वनि युक्त	भोजन के पचने पर बढ़ती है।	परिश्रम से बढ़ती है।	हिक्का धीरे धीरे मन्द शब्द के साथ
२. मर्म-पीड़ा	देह-क्षुब्ध, ग्लानि	प्रलाप, तृषा	अल्पवेग, शीघ्रशांत	छींक
३. महावेग वाली हिक्का	नाभि-प्रवृत्ता	चेतनानाश	मृदु	इन्द्रियों में कोई बाधा नहीं
४. हिक्का का शब्द उच्च	अनेक उपद्रव युक्त	जत्रुमूलोत्थ, वेगवती	साध्य	साम्य आहार से शांत
५. गात्र विकम्पन	प्राणनाशक	प्राणघातक	—	—

साध्यासाध्यता :—

असाध्य—

१—जिस रोगी में दोषों का अधिक संचय हो।

२—जो रोगी अनशन से कृश हो गया हो।

३—जिसका शरीर रोगों से कृश हो चुका हो ।

४—वृद्ध व्यक्ति की हिक्का ।

५—अति व्यायाम करने वाले को उत्पन्न हिक्का ।

६—प्रलाप, तृष्णा और मोह से युक्त यमला हिक्का ।

७—महती और गम्भीरा हिक्का ।

चिकित्सा—

१—हिक्का की चिकित्सा श्वास रोग की तरह करनी चाहिए ।

२—गोघृत को स्त्री के दूध तथा जीवनीयगण की औषधियों के कल्क से सिद्ध करके उस घृत का पान कराना चाहिए या उसका नस्य देना चाहिये ।

३—आमलकी तथा कपित्थ के रस में मधु और पिप्पली चूर्ण मिलाकर चाटने को देना चाहिये ।

४—बेर, मधु, द्राक्षा, पिप्पली और सोंठ—इनको मिलाकर प्रयुक्त करना चाहिये ।

५—सहसा शीतल जल का परिषेक करना चाहिये । त्रास, विस्मय, भय, शोक तथा प्रियवस्तु या व्यक्ति से ग्लानि उत्पन्न करा देने से हिक्का रुक जाती है ।

६—निदान परिवर्जन ।

७—वात-कफ नाशक अन्नपान ।

८—श्वासकुठार का नस्य देने से लाभ होता है ।

पथ्यापथ्य—श्वास रोग के समान ।

११.

स्वर भेद

इस रोग में स्वर में विभिन्न प्रकार के वैकारिक परिवर्तन आ जाते हैं। वाक् प्रवृत्ति प्राणवायु का कर्म बतलाया गया है जो वह कण्ठ की सहायता से करती है। प्राणवायु का स्थान उरस है। प्राणवायु को स्वर उत्पन्न करने के लिए श्वसना से होते हुए कण्ठ में आकर तत्रस्थ शब्दोत्पादक तंत्रियों तथा उसमें कम या अधिक भाग लेने वाले अवयवों को इस प्रकार कहा जा सकता है—

१—फुफ्फुस में जो प्राणवायु रहती है, वह जब

२—श्वसना से बाहर निकलती हुई

३—कण्ठ में आती है और तत्रस्थ

४—शब्दोत्पादक तंत्रियों को उत्तेजित कर

५—मुख से बाहर निकलती है, तब स्वर उत्पन्न होता है।

६—भाषण करने के लिए दो तथा घोष करने के लिये दो धमनियाँ बतलाई हैं जो कि कण्ठ तथा तत्समीपस्थ भाग का पोषण करती हैं। अप्रत्याशित रूप से ये भी स्वर की उत्पत्ति में सहायक हैं।

उपर्युक्त अवस्थाओं में से स्वर की उत्पत्ति से विशेष सम्बन्ध कण्ठ और प्राणवायु का है; अतः स्वर की किसी भी प्रकार की

विकृति में कण्ठ प्रत्याशित या अप्रत्याशित रूप से ..स्यमेव प्रभावित होता है।

स्वर की विकृति दो प्रकार की हो सकती है :—

१—स्वर उत्पन्न होता है, परन्तु मंदस्वर निकलता है।
२—स्वर उत्पन्न ही नहीं होता है।

प्रथम प्रकार में कण्ठशोथ (गलशोथ), प्रतिश्याय, कास और प्राणवायु की दुष्टि प्रधान रूप में होती है। द्वितीय प्रकार में कण्ठस्थ शब्दोत्पादक तंत्रियों का घात तथा/या भाषण के लिए बतलायी गयी धमनियों की विकृति हुआ करती है। अर्दित में कण्ठ का भी घात होने से वाक्संग (Aphonia) होगा और अपूर्णघात से स्वरभेद होगा।

चरक ने अर्दित के लक्षणों में स्वरभेद; वाणी दीन, वक्र तथा अति शीघ्र प्रवृत्तिवाला; बोलते बोलते स्वर बंद हो जाना तथा वाक्संग ये लक्षण भी लिखे हैं। सुश्रुत ने भी अर्दित के लक्षणों में वाक्संग लिखा है और वाग्भट ने भी अर्दित के लक्षणों में स्वरभ्रंश तथा वाक्संग लिखा है। सभी आचार्य अर्दित में कण्ठ के घात (Paralysis) को भी मानते हैं और इसीलिए उन्होंने अर्दित में स्वर की कोई न कोई विकृति लक्षण के रूप में बतलाई है जो प्रत्यक्ष में मिलती है।

निदान —

१—अत्युच्च भाषण। २—विष।
३—अभिघात। ४—क्षय।

भेद :—

स्वरभेद पाँच प्रकार का होता है—वातज, पैत्तिक, कफज, सन्निपातिक और रक्तज । कई आचार्य मेदज स्वरभेद और क्षयज स्वरभेद को भी एक भेद मानते हैं ।

लक्षण—

स्वर भेद प्रधानतः निम्नलिखित व्याधियों में मिलता है :—

१—कास में कण्ठ के शोथ होने पर स्वरभेद होता है ।

२—क्षय रोग में स्वरभेद व्यवहार में भी मिलता है ।

३—प्रतिश्याय में वात और कफ दुष्ट होकर नासिका को पीड़ित करके अन्त में कण्ठ को भी प्रभावित करते हैं और स्वरभेद उत्पन्न हो जाता है ।

४—'स्वरघ्न' एक कण्ठ रोग है जिसमें स्वरभेद भी एक लक्षण के रूप में मिलता है।

५—अर्दित में घात (Paralysis) के कारण स्वरभेद या वाक्संग मिलता है।

६—तृष्णा से पीड़ित रोगी में स्वरभेद मिलता है।

७—मेदज गलगण्ड के लक्षणों में 'अस्पष्ट शब्द' लक्षण मिलता है जो कि स्वरभेद की तरह प्रतीत होता है।

वातिक स्वरभेद की चिकित्सा :—

१—भोजन से पूर्व बलातैल, रास्नातैल तथा अमृताश तैल का पान, अभ्यंग तथा अनुवासन करना चाहिये।

२—क्षुद्र पंचमूल से साधित मसूर, तीतर और मुर्गे का मांसरस प्रयुक्त करना चाहिये।

पैत्तिक स्वरभेद की चिकित्सा :—

१—विरेचन कराना चाहिये।

२—मधुर द्रव्यों से साधित दूध, सर्पिगुड, जीवनीय घृत तथा वासा घृत का प्रयोग करना चाहिये।

श्लैष्मिक स्वरभेद की चिकित्सा :—

१—वमन विरेचन, तीक्ष्ण शिरोविरेचन, धूम्रपान, यवान्न तथा कटु द्रव्यों का प्रयोग।

२—चव्यादि लेह लाभ करता है।

३—पिप्पली और हरड़ के चूर्ण को यथायोग्य मात्रा में मिलाकर मधु के साथ चाटने को देना चाहिये ।

सन्निपातिक स्वरभेद की चिकित्सा :—

१—इसकी चिकित्सा रक्तज स्वरभेद के समान है, परन्तु इसमें सिरावेध नहीं किया जाता है ।

रक्तज स्वरभेद की चिकित्सा :—

१—घृतयुक्त जाङ्गल पशु पक्षियों का मांस-रस दें ।

२—अंगूर, गन्ना या विदारीकन्द के रस में घी, मधु और खांड मिलाकर देवें ।

३—क्षयज कास में प्रयुक्त होने वाली (कास रोग देखें) औषधियों का तथा पैत्तिक स्वरभेदोक्त औषधियों का प्रयोग किया जा सकता है ।

४—रक्तज स्वरभेद में (ललाट की) शिरावेध करना शास्त्रों में वर्णित है ।

सामान्य चिकित्सा—मल्ल, यष्टीमधु, आमलकी, वासा—इनका विविध प्रकार से प्रयोग करना चाहिये । ताम्बूल, इलायची तथा काली मिरच का प्रयोग लाभकारक होता है । एलादि गुटी तथा लवंगादि गुटी का प्रयोग लाभदायक है ।

पथ्य—द्राक्षा, मस्तुलुंग, लशुन, लवण, आर्द्रक, ताम्बूल, मरिच, हरीतकी, घृत ।

१२.

उरःक्षत

इस व्याधि में उरस (फुफ्फुस) में क्षत हो जाता है जिससे छाती में सुई चुभोने के समान वेदना, कास और रक्त-वमन होता है।

निदान—

१—भारी वजन उठाना।

२—पर्वत या किसी ऊंचे स्थान से गिरना।

३—अपने से अधिक बलवान के साथ कुस्ती लड़ना।

४—भागते हुये साँड़, घोड़े आदि को बलात् रोकना।

५—भारी पत्थर या मुग्दर फेंकना।

६—अधिक जोर से चिल्लाना।

७—अत्यधिक साहसिक कार्य करना।

८—अधिक कूदना।

९—अधिक मैथुन करना।

सम्प्राप्ति—

उपर्युक्त निदानों से उस व्यक्ति की छाती विदीर्ण हो जाती है और तदनन्तर वायु का प्रकोप होकर लक्षणों की उत्पत्ति हो जाती है।

दोष—वात प्रधान ।
दूष्य—रक्त, रस ।
स्रोतस—प्राणवह स्रोतस ।
अवयव (अधिष्ठान)—फुफ्फुस ।
स्रोतो दुष्टि लक्षण—आशुकारी ।

लक्षण—

१—पार्श्वशूल ।
२—उरःशूल, कास, रक्त छर्दि ।
३—बल, वर्ण तथा अग्नि का नाश ।
४—ज्वर, मानसिक हीनता, अतिसार ।
५—पीला, दुर्गन्धित, श्यामवर्ण या रक्त मिश्रित कफ निकलता है ।

दुर्बल रोगी में या उदरस्थ अवयवों पर भी प्रभाव पड़ने पर रक्तमिश्रित मूत्र आ सकता है तथा पार्श्व, पृष्ठ और कटि में शूल होता है ।

साध्यासाध्यता—

साध्य—१. रोगी बलवान हो । २. अग्निदीप्त हो । ३. रोग नवीन हो । ४. लक्षण अल्प हों ।

याप्य—एक वर्ष पुराना उरःक्षत याप्य होता है, कारण कि तब धातुओं का क्षय हो जाता है और क्षतज कास या साहसज यक्ष्मा के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं ।

असाध्य—सम्पूर्ण लक्षणों के होने पर असाध्य ।

चिकित्सा :—

(१) कच्ची लाख को मधु के साथ मिलाकर दूध के साथ पीने को देना चाहिये ।

(२) औषधि देने के कुछ देर बाद शर्करायुक्त अन्न का दूध के साथ सेवन कराना चाहिये ।

(३) उरःक्षत के साथ यदि अतिसार भी हो तो लाक्षा, मोथा, अतीस, पाठा एवं इन्द्र जौ–इनका चूर्ण देना चाहिए ।

(४) उरःक्षत के साथ यदि अतिसार भी हो तो कच्ची लाख, मधु-मक्खियों के छत्ते की मोम, जीवनीय गण की १० औषधियाँ, खाँड, वंशलोचन, गेहूँ का आटा–इनको दूध में पकाकर रोगी को खिलाना चाहिये ।

(५) एलादि गुटिका, यष्ट्याव्हादि घृत, कोलादि घृत, अमृतप्राश घृत, श्वदंष्ट्रादि घृत, सर्पिगुंड, सर्पिर्मोदक, सैंधवादि चूर्ण-इन चरकोक्त योगों का प्रयोग करे ।

(६) अति व्यवाय से उत्पन्न उरःक्षत में बृंहण अन्नपान का प्रयोग करना चाहिये ।

(७) चन्द्रकला रस, शृंग, मधुयष्टि, लाक्षा, सितोपलादि चूर्ण–यथावश्यक उपयोग करना चाहिए ।

(८) लाक्षा चूर्ण १ माशा, चन्द्रकला रस ४ रत्ती, शृंग ४ रत्ती, मधुयष्टी १ माशा । एक मात्रा । ऐसी तीन मात्रा में दिन में

तीन बार वासावलेह आधा तोला के साथ रक्तष्ठीवन तथा पार्श्वशूल में देने से बहुत लाभ देखा गया है।

पथ्य—शालि, गोधूम, यवान्न, मुद्गयूष, दाड़िम, आंमलकी, आम, द्राक्षा, अजाक्षीर, बलासिद्ध क्षीर, मद्य, जांगल मांस।

अपथ्य—वृन्ताक, कारवेल्लक, विल्व, राजिका, तैलसिद्ध अन्न, मैथुन, दिवास्वप्न, क्रोध।

१३.

प्रतिश्याय

निदान :—

वेगधारण, धूलि सेवन, शीतलजल या ओस का सेवन, अति-मैथुन, भाप या धूम्र का सेवन, शिरोऽभिताप, अजीर्ण, अति भाषण क्रोध, ऋतु वैषम्य, रात्रि जागरण, दिवास्वप्न । इनमें से प्रथम ६ निदान शीघ्र ही प्रतिश्याय उत्पन्न करने वाले हैं, अतः इन्हें सद्यः प्रतिश्यायकर भी कहा गया है । उपर्युक्त सभी निदानों से नासिका में खवैगुण्य तथा तीनों दोषों का प्रकोप होता है ।

सम्प्राप्ति—

उपर्युक्त निदानों से तीनों दोषों का प्रकोप होता है विशेषतः वात का प्रकोप होता है । अतः प्रतिश्याय वात प्रधान रोग है । इसमें वायु कफ को नासिका से बाहर निकालती है ।

सर्व प्रथम निदान से तीनों दोषों का प्रकोप; पित्त प्रकोप से अग्निमांद्य, परिणाम स्वरूप आम की उत्पत्ति; यह आम कफ से मिल जाता है; वायु इसे रसवह स्रोतस में ले जाता है; प्रसरावस्था में नासिका में स्थानसंश्रय होता है; कफ छींक के साथ पतला होकर बाहर निकलने लगता है ।

भेद—

वातज-पैत्तिक-कफज-सान्निपातिक-रक्तज ।

लक्षण—

वातज प्रतिश्याय में नासाशूल, छींक, पतला स्राव, स्वरभेद एवं शिरोवेदना।

पैत्तिक प्रतिश्याय में—नासापाक, ज्वर, मुखपाक, तृष्णा, उष्ण एवं पीतवर्ण का स्राव।

कफज प्रतिश्याय में—कास, अरुचि, घना स्राव, नासा कण्डू।

सान्निपातिक में सभी लक्षण मिश्रित होते हैं। रक्तज प्रतिश्याय में पैत्तिक प्रतिश्याय के लक्षण तथा नासिका से रक्तस्राव होता है।

दुष्ट प्रतिश्याय—

अपथ्य से या ठीक चिकित्सा न करने से वार वार प्रतिश्याय का होना दुष्ट प्रतिश्याय कहलाता है। इसके विशिष्ट लक्षण हैं—नासावरोध, मुखदौर्गन्ध्य तथा गंधज्ञान का नहीं होना।

अपीनस या पीनस—

इसके लक्षण भी दुष्ट प्रतिश्याय के समान ही होते हैं; कुछ उग्रतर होते हैं। दुष्ट प्रतिश्याय या प्रतिश्याय की तरह यह भी वात-कफ प्रधान होता है।

प्रतिश्याय की चिकित्सा—

१—सामान्यतः नस्य, धूम, शोधन तथा शमन चिचित्सा की जाती है। साथ ही दोषानुसार चिकित्सा करते हैं।

२—भार्ग्यादितैल, अणुतैल तथा मनःशिलादि चूर्ण को नासिका में डालें।

३—दीपन-पाचन योग दिये जा सकते हैं।

३—त्रिभुवन कीर्ति, सितोपलादि, लघुवसंत मालती, शृंगभस्म—यथावश्यक मात्रा में देते हैं।

५—दुष्ट प्रतिश्याय एवं पीनस की चिकित्सा भी इसी तरह करते हैं।

१४.

तृष्णा रोग

वार वार पानी पीने पर भी प्यास का न मिटना तृष्णा रोग कहलाता है। यह रोग शरीर में उदक की कमी से होता है। शरीर में उदक की कमी मुख्यतया तीन प्रकार से हो सकती है—

१—पानी कम पीने से शरीर को आवश्यक मात्रा में पानी का न मिलना।

२—किन्हीं व्याधियों में उदक का शरीर से अधिक मात्रा में वाहर निकल जाना (यथा-अतिसार, विषूचिका, प्रमेह)।

३—दोपो की विकृति से शरीर में उदक का अधिक नाश होना।

नम्वर १ तथा २ की अवस्था में तृष्णा लक्षण के रूप में होती है और नम्वर ३ की अवस्था में तृष्णा रोग होता है। तृष्णा रोग में दोषों के द्वारा शरीर में उदक का क्षय हो जाता है। दोषों में कफ उदक के समान गुण धर्म वाला होने से उदक का क्षय नहीं कर सकता है, अतः तृष्णा रोग में कफ का कर्तृत्व नगण्य है। पित्त अपने उष्ण गुण से तथा वायु अपने रूक्ष गुण से उदक को कम कर सकता है। इसीलिए तृष्णा रोग के निदानों में वात तथा पित्त प्रकोपक कारण वताये गये हैं। साथ ही जिन व्याधियों में तृष्णा को लक्षण या उपद्रव के रूप में वताया गया है, वे प्रायः वात प्रधान या पित्त प्रधान हैं या उनमें उदक शरीर से अधिक मात्रा में वाहर निकल जाता है। निम्नलिखित

रोगों में तृष्णा लक्षण के रूप में बतलाई गई है—रसज ज्वर, रक्तज ज्वर, मांसज ज्वर, मेदज ज्वर, पित्तज श्वयथु, पित्तोदर, प्लीहोदर, यकृदाल्युदर, बद्धोदर, जलोदर, विषूचिका, वातिक ग्रहणी, पैत्तिक कास, पित्तातिसार, पैत्तिक छर्दि, त्रिदोषज छर्दि, पित्तज विसर्प, उदावर्त, हृद्रोग एवं पैतिक प्रतिश्याय आदि।

निदान—

क्षोभ, भय, श्रम, शोक, लंघन, रूक्ष तथा शुष्क-अन्न, मद्य, धातुक्षय, रोगापकर्षण, वमनातियोग (ये सब वात प्रकोपक कारण हैं) तथा क्रोध, सूर्य, संताप, क्षार, अम्ल, लवण, कटु एवं उष्ण पदार्थों का सेवन (ये सब पित्त प्रकोपक कारण हैं)।

सम्प्राप्ति—

पूर्वोक्त निदानों से प्रकुपित वात और पित्त उदक-वह स्रोतों में जाकर तत्रस्थ उदक को सुखाते हैं जिससे शरीर में उदक का क्षय हो जाता है जिसकी पूर्ति के लिए 'तृष्णा' होती है। उदकवह स्रोतस के मूल तालु और क्लोम हैं। उदक क्षय से तालु शुष्क हो जाता है जिससे प्यास लगती है। बार बार पानी पीने पर भी प्यास नहीं मिटती, कारण कि प्रवृद्ध वात और पित्त शरीर में उदक का क्षय करते रहते हैं रोगों के उपद्रव स्वरूप जो तृष्णा उत्पन्न होती है उसे औपसर्गिक तृष्णा कहते हैं।

१. दोष—वात तथा पित्त।
२. दूष्य—उदक।
३. स्रोतस—उदक-वह।

४. स्रोतोमूल—तालु एवं क्लोम ।
५. आमाशयोत्थ व्याधि है ।
६. आशुकारी व्याधि है ।

भेद :—

वास्तव में तृष्णा रोग के दो ही भेद हो सकते हैं—

१. वातजा तृष्णा, २. पित्तजा तृष्णा । फिर भी शास्त्रों में विशिष्ट कारणानुसार तृष्णा के कई भेद किये गये हैं । यथा—वातजा, पित्तजा, कफजा, आमजा, रसक्षयजा, भक्तजा मद्यजा, औपसर्गिक, क्षतजा एवं स्नेहजा । इन भेदों के नामों से एक विशिष्ट कारण का ज्ञान होता है और उस कारण को हटाना ही इन भेदों की चिकित्सा है ।

तृष्णा रोग के सामान्य लक्षण :—

मुखशोष, स्वरभेद, भ्रम, संताप, प्रलाप, संस्तम्भ, तालु, ओष्ठ तथा जिह्वा का सूखना, बेहोशी, जीभ का बाहर निकलना अरुचि, बधिरता, मर्मपीड़ा तथा शरीर का शिथिल होना ।

तृष्णा रोग के प्रधान भेद वातजा तृष्णा तथा पित्तजा तृष्णा ही होते हैं, अतः उन्हीं के लक्षण लिखते हैं—

वातजा तृष्णा के लक्षण :—

निद्रानाश, भ्रम, मुखशोष, मुख के स्वाद का बिगड़ना तथा स्रोतोरोध ।

पित्तजा तृष्णा के लक्षण :—

तिक्तास्यता, शिरोदाह, ठण्डे पदार्थों की इच्छा, मूर्च्छा, नेत्र, मूत्र तथा पुरीष के वर्ण का अधिक पीला होना ।

तृष्णा रोग की सामान्य चिकित्सा :—

१—शीतल जल में मधु मिलाकर पिलाना चाहिए अथवा तृण पंचमूल से क्वथित जल में मिसरी डालकर पिलाना चाहिए ।

२—कच्चे जौ का माण्ड या शालि धान्य की पेया बनाकर मिसरी के साथ देना चाहिए ।

३—रोगी को शतधौत–घृत की मालिश कराकर स्नान करावें और दूध पिलावें ।

४—मूंग, मसूर तथा चने के यूष को घृत-भर्जित करके पिलाना चाहिए ।

५—ऊँटनी के दूध में या स्त्री के दूध में मिसरी मिलाकर पिलाना चाहिए ।

६—ताजे आंवलों को घी और कांजी के साथ पीसकर सिर पर लेप करना चाहिए ।

७—*वातजा तृष्णा* में मृदु, लघु, शीतल एवं वातनाशक अन्नपान देना चाहिए ।

:—*पैत्तिक तृष्णा* में द्राक्षा, चन्दन, पिण्ड खजूर तथा खस–इनसे

षडंग पानीय विधि से जल बनाकर शीतल होने दें और तब मधु मिलाकर रोगी को पिलायें।

९—सुवर्ण-रौप्य सिद्ध जल भी देते हैं। मिट्टी के ढेले को गरम करके उसे पानी में डुबो देते हैं। फिर पानी लेकर रोगी को पिलाते हैं।

१०—पिप्पली युक्त जल पिलाकर रोगी को वमन करायें।

पथ्य—शाल्यन्न, पेया, विलेपी, लाजा, मण्ड, मूँग तथा मसूर का पानी, खजूर, दाड़िम, जामुन, दूध आदि।

अपथ्य—अधिक कटु तिक्त पदार्थों का सेवन, आतप सेवन।

१५.

जलोदर

इस व्याधि में उदर में जल भर जाता है। यह एक दुश्चिकित्स्य रोग है।

निदान :—

(१) स्नेहपान, अनुवासन, वमन, विरेचन तथा निरूह के बाद सहसा शीतल जल पीना (स्वतन्त्र जलोदर का निदान)

(२) किसी भी कारण से यदि प्राण, अग्नि और अपान की दुष्टि हो (परतन्त्र जलोदर का निदान)

(३) उदर के ८ प्रकार हैं। जलोदर के अतिरिक्त शेष ७ उदर अन्त में जलोदर में बदल सकते हैं। (परतंत्र जलोदर का निदान)

सम्प्राप्ति :—

पूर्वोक्त निदानों से उदकवह स्रोतोदुष्टि हो जाती है और जलोदर उत्पन्न हो जाता है। 'जलोदर' शब्द से स्पष्ट है कि इस व्याधि में उदर में जल भर जाता है। उदर एक व्यापक शब्द है। उदर में कहाँ जल भरता है, इस बात को स्पष्ट करने के लिये जलकी उदर में 'त्वग्मांसाभ्यन्तर स्थितिः' बतलाई गई है। अतः स्पष्ट है कि जलोदर में जल उदर की आभ्यन्तरिक त्वचा और मांस के बीच एकत्रित होता है। प्राकृत अवस्था में जल वहाँ एकत्रित नहीं होता है। जल

का वहाँ जाना 'विमार्ग गमन' कहलाता है। विमार्गगमन स्रोतोदुष्टि का लक्षण है। क्योंकि इस रोग में उदक का विमार्गगमन होता है, अतः उदकवह स्रोतस की दुष्टि का अनुमान करते हैं। विमार्गगमन के लिए उदकवह स्रोतस की दुष्टि दो प्रकार से हो सकती है–(१) आघात से उदकवह स्रोतस कटजाँय या (२) उदकवह स्रोतस में अवरोध हो जाय। क्योंकि जलोदर के कारणों में आघात कोई कारण नहीं है, अतः प्रथम सम्भावना का निराकरण हो जाता है। दूसरी सम्भावना में संग (अवरोध) का प्रश्न है। संग दो प्रकार से उत्पन्न हो सकता है। (१) उदकवह स्रोतस में कोई रचना सम्वन्धी विकृति हो जाय अथवा (२) उसमें कोई पदार्थ रुक जाय। आयुर्वेद का यह सामान्य सिद्धान्त है कि जिन व्याधियों में रचना सम्वन्धी विकृति प्रधान घटना होती है, उनका नामकरण उन्हीं अवयवों के आधार पर किया जाता है; यथा ग्रहणी, हृद्रोग, उरःक्षत आदि। यतः जलोदर शब्द किसी अवयव या स्रोतस का द्योतक नहीं है, अतः इसमें स्रोतस की रचना सम्वन्धी विकृति नहीं होनी चाहिए। दूसरी सम्भावना है कि कोई पदार्थ उदकवह स्रोतस में रुकजाय और 'संग' करदे। इसमें भी दो वातें सभी स्रोतसों के दृष्टिकोण से हो सकती है—या तो उस स्रोतस में प्रवाहित होने वाला द्रव्य विकृत होकर संग करदे या विकृत दोष वहाँ पहुँचकर संग करदे। उदक की तरलता कभी संग नहीं कर सकती, अतः दोषों से ही संग होना चाहिए। संग किसी गुरु दोप से अधिक होता है। दोषों में कफ सवसे अधिक गुरु है, परन्तु इसमें पिच्छिलता आदि वैकारिक गुण आने चाहिए जिससे वह स्रोतस में रुक जाय और संग करदे। कफ में पिच्छिलता आम से उत्पन्न होती है और आम अग्निमांद्य का अनिवार्य परिणाम है। इस प्रकार के पिच्छिल कफ

को अपने सामान्यस्थान—आमाशय—से स्रोतस में पहुँचाने का कार्य वायु का है। उपर्युक्त आधार पर जलोदर एक त्रिदोषज व्याधि है। इस विवरण के आधार पर यूँ कह सकते हैं कि निदान से तीनों का प्रकोप होता है। पित्तदुष्टि से अग्निमांद्य और परिणाम स्वरूप आम की उत्पत्ति होती है। यह आम प्रदुष्ट कफ को अधिक पिच्छिल कर देता है जिसे वायु उदकवह स्रोतस में पहुँचाकर संग कर देता है और परिणाम उदक का विमार्गगमन होता है जिससे वह जलोदर को उत्पन्न कर देता है। इसी आधार पर सम्प्राप्ति में—

१—दोष—तीनों दोष।

२—*दूष्य*—उदक (रस)।

३—*स्रोतस*—उदकवह (रसवह + रक्तवह)।

४—*स्रोतोदुष्टि*—संग→विमार्गगमन।

५—आमाशयोत्थ एवं पक्वाशयोत्थ व्याधि।

६—चिरकारी व्याधि।

उदक ही रोमकूपों से निकलने पर स्वेद और मूत्रमार्ग से निकलने पर मूत्र कहलाता है। सांघटनिक विभिन्नता के कारण इसे भिन्न भिन्न संज्ञायें दी गई हैं, लेकिन उदकभाव सब में है। अतः उदकवह स्रोतस की दुष्टि में स्वेदवह और मूत्रवह स्रोतसों की भी दुष्टि हो सकती है और उनकी दुष्टि के लक्षण भी मिल सकते हैं।

यह जलोदर की सम्प्राप्ति स्वतंत्र जलोदर की सम्प्राप्ति है। निदानों को देखने पर ज्ञात होता है कि यतः वमन—विरेचनादि पंचकर्म अब बहुत ही कम होते हैं अतः उनके बाद सहसा शीतल जल-

पान से उत्पन्न स्वतंत्र जलोदर भी वहुत ही कम होता है। आजकल परतन्त्र जलोदर के ही रोगी मिलते हैं।

परतन्त्र जलोदर की सम्प्राप्ति :—

जिन रोगों में प्राणवायु, अग्नि या अपान वायु की मुख्य दुष्टि होती है, उनमें जलोदर हो सकता है वशर्ते कि वह दुष्टि उदकवह स्रोतों में संग करे। रचना की दृष्टि से उदकवह स्रोतस का पृथक् अस्तित्व नहीं है। उदक रस और रक्त के साथ ही सारे शरीर में घूमता है। अतः क्रिया शरीर की दृष्टि से उदकवह स्रोतस की कल्पना की गई है।

प्राण वायु की दुष्टि से कई व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। रसवह स्रोतस का मूल हृदय है जिसकी गति प्राणवायु के द्वारा नियमित होती है। हृद्रोग में प्राणवायु की विकृति होती है और हृदय में संग होता है जिससे शोथ उत्पन्न हो जाता है। यही शोथ जव उदर में हो जाता है तव जलोदर उत्पन्न हो जाता है। इसमें प्राणवायु की दुष्टि से उत्पन्न हृद्यरोग जलोदर (परतंत्र) का कारण वनता है।

अग्नि की दुष्टि से भी कई रोग पैदा होते हैं। अग्निदुष्टि से आम और सामकफ से संग स्वतंत्र जलोदर में वताया जा चुका है। परतंत्र जलोदर के लिए अग्नि और पित्त में अभेदान्वय मानकर तथा पित्त का सम्वन्ध यकृत से स्थापित कर रक्तवह स्रोतोमूल यकृत में संगात्मक विकृति (यकृदाल्युदर) से जलोदर उत्पन्न होना अभिप्रेत है। यहाँ यकृत विकार से जलोदर हुआ।

अपान की दुष्टि से भी कई रोग होते हैं। अपान वायु मूत्र के निर्माण एवं विसर्जन में भाग लेता है, अतः अपान वायु की ऐसी

विकृति, जिससे मूत्रवह स्रोतस एवं तन्मूल वृक्कों में संगात्मक विकृति आ जाय, जलोदर तथा शोथ उत्पन्न कर सकती है।

इन तीन प्रमुख कारणों से उत्पन्न परतंत्र जलोदर के रोगी ही प्रायः मिलते हैं। इन तीन कारणों के अतिरिक्त ७ उदर रोग अन्त में जलोदर में बदल सकते हैं। इन ७ में से भी यकृदाल्युदर, प्लीहोदर तथा क्षतोदर मुख्य हैं जो जलोदर की उत्पत्ति में निदानार्थकर बनते हैं। स्वतंत्र जलोदर की सम्प्राप्ति में आघात नहीं माना गया है, क्षतोदर आघात से भी हो सकता है जो अन्त में जलोदर में परिवर्तित हो सकता है। क्षतोदर से उत्पन्न जलोदर को छोड़कर शेष सभी में उदकवह स्रोतस में संग अवश्य होता है।

जलोदर के प्रकार :—

१. स्वतंत्र जलोदर, २. परतंत्र जलोदर। स्वतंत्र सम्प्राप्ति से तथा स्वतंत्र निदानों से उत्पन्न जलोदर स्वतंत्र जलोदर कहलाता है। एक रोग के लक्षण या उपद्रव स्वरूप उत्पन्न जलोदर परतंत्र जलोदर कहलाता है।

जलोदर का रोग विनिश्चय :—

जलोदर का पता लगाने (रोग विनिश्चय) में कठिनाई नहीं होती; इसके कारण का पता लगाना थोड़ा कठिन है जिसमें यांत्रिक एंवं रासायनिक परीक्षणों से वहुत सहायता मिलती है। जलोदर का प्रत्यात्म लक्षण है—'उन्नतोदरता'। उदर का यह उत्सेध मुख्यतया ५ कारणों से हो सकता है—

[१] वसा, [२] वालक, [३] विट् [४] वायु और [५] वारि। प्रथम चार कारणों से उत्पन्न उन्नत-उदर में 'परिवृत्त नाभिः' तथा 'दृति (मशक) वत् क्षोभ और कम्प' नहीं मिलते हैं जो कि वारिज उन्नत-उदर (जलोदर) में अवश्य मिलते हैं।

उदर में जल सहसा संचित नहीं होता है; उसकी कुछ अवस्थायें होती हैं जिस आधार पर जलोदर को निम्न लिखित तीन अवस्थाओं में विभक्त किया जाता है—

१—*अजातोदकावस्था*—इस अवस्था में उदर में जल तो एकत्रित नहीं होता है, परन्तु तदर्थ घटनायें प्रारम्भ हो जाती हैं। शरीर के प्राकृतिक नियम के अनुसार उदकवह स्रोतस (रक्तवह स्रोतस) में अवरोध के कारण उदर की सिरायें फूल जाती है ताकि दूसरे मार्ग से अवरूद्ध उदक को शरीर में भेजा जाय। अतः इस अवस्था में रोगी के उदर पर सिराजाल दीखता है। रोगी को दौर्बल्य तथा उदर पर कुछ खिचावट लगनी प्रारम्भ हो जाती हैं। आकोटन से उदर में वैकारिक परिवर्तन नहीं मिलते।

२—*पिच्छावस्था*—इस अवस्था में अवरोध अधिक बढ़ जाता है जिससे कुछ उदक का रस के साथ विमार्गगमन होने लगता है। उदर गुरू मालूम होता है। इस अवस्था में सिराजाल पूर्वापेक्षा कम दीखता है। उदर कुछ गोल-उठा हुवा, आकोटन से कठिन ध्वनि तथा स्पर्श में मृदु हो जाता है।

३—*जातोदकावस्था*—इसे ही स्पष्ट जलोदर कहते हैं। इसके लक्षण निम्नलिखित होते हैं—

(१) उदर बहुत बड़ा होता है।

(२) सिरायें बहुत पतली दीखती हैं, या कभी कभी नहीं भी दीखती।

(३) अन्न की इच्छा नहीं होती है।

(४) प्यास लगती है।

(५) उदर कुछ दुखता है तथा भारी मालूम पड़ता है।

(६) श्वास कष्ट तथा कास।

(७) दृति (मशक) वत् शब्द (Dullness), क्षोभ तथा कम्प (thrill) मिलते हैं (आकोटन करने से)।

(८) भूख नहीं लगती है।

(९) नाभि परिवृत्त (उठी हुई) होती है।

(१०) पाण्डु, दौर्बल्य तथा बाद में मुख तथा पाद पर शोथ।

जलोदर की चिकित्सा :—

१—यदि जल अधिक भर गया हो और उससे रोगी को अधिक कष्ट हो रहा हो तो शस्त्रकर्म से उदक को निकालना चाहिए। एतदर्थ नाभि से नीचे वामपार्श्व में नाड़ी-यंत्र से वेध कर उदक को निकालना चाहिए। पश्चात् उदर पर पट्टी बाँधनी चाहिए जिससे कि पानी के दबाव के सहसा हट जाने से होने वाले उपद्रव न हो सकें। पानी से उदरस्थ अवयवों पर जो दबाव रहता है, पानी निकालने पर वह सहसा कम हो जाता है, अतः सारे पेट पर पट्टी बाँधते हैं।

२—जलोदर में सर्व प्रथम जल के दोषों को नष्ट करने के लिए

चिकित्सा करनी चाहिए। जो उदक अवरोध के कारण उदर में एकत्र हो गया है, उसे निकालने के लिए दीपन-पाचन तथा मूत्रल एवं रेचक औषधियाँ देनी चाहिए।

३—मल-मूत्र विभजन पक्वाशय में, विशेषतः उण्डुक में होता है। साथ ही शाखाश्रित दोषों को भी कोष्ठ से निकालना है। अतः जलोदर के रोगी को नित्य विरेचन कराना चाहिए। एतदर्थ जलोदरारिरस, नाराचरस या इच्छाभेदीरस दिये जाते हैं।

४—उदक को शरीर से बाहर निकालने के लिए मूत्रवह स्रोतस की क्रिया को किसी भी प्रकार से बढ़ाना चाहिए जिससे कि अधिक मूत्र निकले। एतदर्थ मूत्रल चूर्ण, पुनर्नवाष्टक क्वाथ आदि देने चाहिए। यदि वृक्कगत विकृति से जलोदर (अपान दुष्टि से) हुआ हो तो मूत्रल औषध यथा-सम्भव नहीं देनी चाहिए।

५—जलोदर त्रिदोषज व्याधि है, अतः तीनों दोषों को शान्त करने की चिकित्सा करनी चाहिए।

६—क्षार युक्त गोमूत्र पिलाने से अच्छा मूत्रल प्रभाव होता है।

७—रोगी को लवण और जल धीरे धीरे बंद कर देने चाहिए। केवल तक्र (छाछ) या दूध पर रखना चाहिए।

पथ्य—तक्र, दूध, मूँग, शालिधान्य, मधु, अनार, जांगल पशु पक्षियों का मांसरस।

अपथ्य—औदक तथा आनूप मांसरस, शाक, तिल, व्यायाम, दिवास्वप्न, सवारी पर जाना।

१६.

अरोचक

अन्न में कोई रुचि न होना अरोचक कहलाता है। अरुचि, भक्तद्वेष, अभक्तच्छन्द एवं अनन्नाभिलाषा—ये सभी लक्षण, जो कि कई रोगों के लक्षण रूप में लिखे हुए हैं, अरोचक के अन्तर्गत समाविष्ट हैं। परन्तु इन शब्दों का अपना विशिष्ट अर्थ भी होता है। मुख में स्वाद का मालूम न होना अरोचक, भोज्य पदार्थों को देखने पर भी इच्छा न होना भक्तद्वेष, भोजन करने की इच्छा न होना अनन्नाभिलाषा तथा अन्न में श्रद्धा न होना अभक्तच्छन्द कहलाता है। अभक्तच्छन्द और अनन्नाभिलाषा में भोजन की इच्छा बिल्कुल नहीं होती है।

'अरुचि' नाम से स्पष्ट है कि इस रोग में भोजन में रुचि नहीं होती है। रुचि उत्पन्न करना जिह्वा में रहने वाले बोधक कफ का कार्य है, अतः अरुचि में बोधक कफ की दुष्टि का ज्ञान होता है। अरोचक कफ प्रधान व्याधि है। कफ से अग्निमांद्य होकर या केवल कफदुष्टि से भी अरोचक हो सकता है।

दोष—कफ प्रधान।

दूष्य—रस।

स्रोतस—अन्नवह तथा रसवह स्रोतस।

अवयव—जिह्वा तथा आमाशय।

स्रोतोदुष्टि लक्षण—संग।

आमाशयोत्थ व्याधि है।

भेद :—

अरोचक पाँच प्रकार का होता है :—वातिक, पैत्तिक, कफज, सान्निपातिक, आगन्तुक। आगन्तुक कारणों से—यथा शोक, भय, लोभ और क्रोध आदि से—उत्पन्न अरोचक को आगन्तुक अरोचक कहते हैं। इसमें कारण को दूर करना ही एक मात्र चिकित्सा हुआ करती है।

लक्षण :—

अरोचक

	वातिक	पैत्तिक	कफज	सान्निपातिक	आगन्तुक
१.	मुख का स्वाद कषैला रहता है।	मुख का स्वाद कटु अम्ल या विरस।	मुख का स्वाद नमकीन या मधुर।	मुख का स्वाद अनेक रसों का।	मुख का स्वाद स्वाभाविक, किंतु अन्न में रुचि नहीं।
२.	दन्तहर्ष	मुखदौर्गन्ध्य	मुख कफलिप्त	...	...

चिकित्सा :—

१—कवल धारण करना।
२—औषध युक्त धूम्रपान करना।
३—मुख को धोना।
४—मन को प्रिय लगने वाले अन्नपान का प्रयोग करना।
५—प्रसन्न चित्त रहना।
६—आश्वासन देकर रोगी को खिलाना।

७—वातिक अरुचि में बस्तिकर्म, पैत्तिक में विरेचन और कफज में वमन कराना चाहिए।

८—कवलग्रह के लिए निम्नलिखित औषधियों का प्रयोग करना चाहिए।

(१) कुष्ठ, (कुट) सौवर्चल-लवण, जीरा, खाँड, कालीमिर्च तथा विड्लवण।

(२) आँवला, छोटी इलायची, पद्माख, खस, पिप्पली, लालचन्दन तथा नीलोत्पल।

(३) लोध्र, चव्य, हरड़, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली तथा यवक्षार।

(४) ताजे अनार का रस, जीरा तथा खाँड।

९—*कारव्यादि योग*—इसमें कालाजीरा, कालीमिर्च, द्राक्षा, वृक्षाम्ल, सौवर्चल, गुड़ और मधु पड़ते हैं। इन सब औषधियों को एकसाथ पीसकर गोलियाँ बनालें। इन गोलियों को मुख में रखकर चूसें। यह योग सभी अरोचकों में लाभप्रद है।

१०—अन्य दीपन-पाचन तथा कफशामक चिकित्सा भी की जा सकती है।

पथ्य—गोधूम, शालि, मुद्गयूष, सूरण, काँजी, पटोल, शोभांजन, केला, दाड़िम, द्राक्षा, दुग्ध, घृत, तक्र, हिरण या खरगोश का माँस, मछली तथा स्नान।

अपथ्य—तृष्णा, क्षुधा, क्रोध, लोभ, भय, शोक, मन को अनुकूल न लगने वाला आहार।

★

१७.

अग्निमांद्य (अजीर्ण)

आयुर्वेद में १३ प्रकार की अग्नियाँ मानी गई है। ५ भौतिकाग्नियाँ+७ धात्वग्नियाँ+१ जठराग्नि=१३ अग्नियाँ। जठराग्नि को ही पाचकाग्नि भी कहते हैं। पाचकाग्नि कोष्ठ में रहती है और उसके ४ भेद किये जाते हैं।

१. मन्दाग्नि, २. तीक्ष्णाग्नि, ३. विषमाग्नि, ४. समाग्नि। समाग्नि के अतिरिक्त सब वैकारिक होते हैं। कफाधिक्यता से मन्दाग्नि, पित्ताधिक्यता से तीक्ष्णाग्नि तथा वाताधिक्यता से विषमाग्नि होती है। इनमें से मंदाग्नि से ही अग्निमांद्य उत्पन्न होता है जिससे भोजन का सम्यक् पाचन एवं शोषण नहीं हो पाता। भोजन के असम्यक् पाचन के फलस्वरूप आमविष की उत्पत्ति हो जाती है।

पाचन की प्रक्रिया में अन्न तीन अवस्थाओं से गुजरता है—

१. आमाशय में अन्न मधुरीभाव की अवस्था को प्राप्त होता है। यदि इसी अवस्था में भोजन का पाचन ठीक प्रकार से नहीं होगा तो 'आम' बन जायगा। तब उसे आमाजीर्ण संज्ञा दी जाती है।

२. ग्रहणी में अन्न की अम्लीभाव की अवस्था होती है, इस अवस्था में वैषम्य आने से विदग्धाजीर्ण उत्पन्न होता है।

३. पक्वाशय में अन्न की कटुभाव की अवस्था होती है और इस अवस्था म वैषम्य आने से विष्टब्धाजीर्ण की उत्पत्ति होती है।

इन तीनों अवस्थाओं—मधुरीभाव, अम्लीभाव और कटुभाव

से ठीक प्रकार गुजरते हुए अन्न से आहार रस एवं मल तथा मूत्र बनते हैं और जब उनमें किसी प्रकार की गड़बड़ी होती है तब अपक्व रस का निर्माण होता है। उसे रसशेषाजीर्ण कहते है।

भोजनोत्तर अजीर्ण के कुछ लक्षण स्वाभाविक रूप में मिलते हैं जो भोजन के पाचन के पश्चात् स्वतः शान्त हो जाते हैं—ऐसी अवस्थाओं के स्वाभाविक अजीर्ण को 'दिनपाकि' तथा 'प्रतिवासर' कहते हैं। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि अग्निमांद्य से जो आमविष बनता है वह यदि आमाशय म हो तो छर्दि उत्पन्न कर सकता है और यदि ग्रहणी एवं पक्वाशय में हो तो द्रवमल प्रवृत्ति कर सकता है। यदि रस के साथ शोषित हो जाय तो कई शारीरिक लक्षणों को उत्पन्न कर सकता है। आमाजीर्ण में कफ के, विदग्धाजीर्ण में पित्त के और विष्टब्धाजीर्ण में वात के लक्षण मिलते हैं।

निदान :—

१—अभोजन या भोजन के जीर्ण न होने पर पुनः भोजन करना।
२—विषम-भोजन।
३—असात्म्य पदार्थो का सेवन।
४—अति गुरु, अतिशीतल एवं अतिरूक्ष अन्नों का प्रयोग।
५—स्नेह, वमन तथा विरेचन का ठीक प्रकार से न होना।
६—दोष, काल तथा ऋतुओं में वैषम्य आने पर।
७—किसी व्याधि से अत्यन्त कृश होने पर।
८—ईर्ष्या, भय, क्रोध आदि।
९—वेग विधारण।

अग्नि

- तीक्ष्ण
- मन्द
- विषम
- सम

मन्द

आमा-जीर्ण	विदग्धा-जीर्ण	विष्टब्धा-जीर्ण	रसशेषा-जीर्ण	दिन-पाकि	प्रति-वासर
१. देह गौरवता	भ्रम	१. दाह	१. अन्नद्वेष	एक	भोजन
२. उत्क्लेद	तृष्णा	२. आध्मान	२. हृदय की अशुद्धि	दिन	के
३. गण्ड-शोष	मूर्च्छा	३. अंग-पीड़न	३. देह गौरव	तक	पश्चात्
४. अक्षिकूट-शोथ	अम्लो-द्गार	४. मोह		रहता	प्राकृत
५. मधुरोद्-गार	दाह, स्वेद	५. पुरीष और अपान की अप्रवृत्ति		है	रूप में

सम्प्राप्ति :—

उपर्युक्त कारणों से अग्निमन्द हो जाती है और अन्न का पाचन ठीक नहीं होता है।

१—दोष—कफ प्रधान।

२—दूष्य—अन्न।

३—*स्रोतस*—अन्नवह स्रोतस ।

४—*स्रोतोदुष्टि लक्षण*—संग (आमाशय एवं ग्रहणी में पाचक पित्त ठीक नहीं आ पाता है ।)

५—आमाशयोत्थ व्याधि है ।

६—चिरकारी व्याधि है ।

उपद्रव :—

१—वमन
२—लालास्राव
३—ग्लानि
४—भ्रम
५—मूर्च्छा
६—प्रलाप
७—मृत्यु

चिकित्सा :—

१—अजीर्ण अग्नि की मन्दता से उत्पन्न होता है, अतः इसमें दीपन-पाचन चिकित्सा प्रधान होती है ।

२—आमाजीर्ण में आम पाचक या कफ के अधिक लक्षण मिलने पर वमन कराया जा सकता है ।

३—रसशेषाजीर्ण में लंघन कराना चाहिए ।

४—विदग्धाजीर्ण और विष्टब्धाजीर्ण में लंघन और लघुआहार करना चाहिए ।

५—*योग*—अग्निमुख चूर्ण, अग्नितुण्डी वटी, क्रव्याद रस, शंख वटी, लवण भास्कर, हिंग्वष्टक, गन्धकवटी तथा अजीर्ण कंटक रस में से कोई एक देने पर लाभ होता है ।

अजीर्ण में यदि पेट में गुड़गुड़ाहट हो तो हिंग्वष्टक को पानी या घृत के साथ देने से वहुत अच्छा लाभ होता है। परन्तु हिंगु ग्राही है और मल को सुखाता है, अतः यदि रोगी विवंध या शुष्क मल की वेदना वतलाये तो हिंग्वष्टक नहीं देना चाहिए। ऐसी दशा में लवणभास्कर सर्वोत्तम है।

अजीर्ण में शूल भी हो तो शंखवटी या गंधक का प्रयोग करना चाहिए।

वत्सनाभ शूल शामक है, अतः वत्सनाभ युक्त योग, जैसे— अजीर्ण कण्टक रस, देने से अजीर्ण और उदरशूल में वहुत लाभ होता है।

किसी भी दीपन-पाचन द्रव्य का प्रयोग किया जा सकता है।

पथ्य—लंघन, विलेपी, मण्ड, मुद्गयूप, वकरी का दूध, गोदुग्ध, मसूर, तुहर।

अपथ्य—विरुद्ध भोजन, असात्म्य भोजन, विष्टम्भी भोजन।

१८.

छर्दि

मुख से कफ एवं पित्त मिश्रित अन्न का बाहर निकलना छर्दि कहलाता है।

निदान :—

वातिकछर्दि—१. व्यायाम
२. तीक्ष्णौषध
३. शोक
४. रोग
५. भय
६. उपवास

पैत्तिक छर्दि—१. कटु, अम्ल, विदाही तथा उष्ण पदार्थों का सेवन।
२. अजीर्ण

कफज छर्दि—१. स्निग्ध भोजन
२. दिवास्वप्न
३. अत्यन्त गुरु, आम तथा विदाही भोजन
४. अधिक सोना

सान्निपातिक छर्दि—१. सब रसों को मिलाकर अधिक मात्रा में सेवन करना।
२. ऋतु विपर्यय।

द्विशिष्टार्थ संयोगज छर्दि—१. मन को आहत करने वाले गंध, भोजन, व दृष्य, इसमें

बीभत्सजा छर्दि, आमजाछर्दि,
कृमिजाछर्दि तथा दौहृदजा-
छर्दि का समावेश होता है।

सामान्य सम्प्राप्ति :—

महास्रोतस में प्रकुपित वात तत्रस्थ दोषों को उत्क्लिष्ट करके आमाशय से अन्न के साथ वाहर निकालता है।

निदान— { अग्निमांद्य→आम / अन्नवह स्रोतोदुष्टि (संग) / आमाशयस्थ दोषोत्क्लेश } —अन्न का विमार्ग-गमन—छर्दि

१—दोष—वात (कफ) प्रधान।
२—*दूष्य*—अन्न।
३—*स्रोतस*—अन्नवह।
४—*अवयव*—आमाशय।
५—*स्रोतोदुष्टि लक्षण*—स्रोतोरोध, विमार्गगमन।
६—आमाशयोत्थ व्याधि है।
७—आशुकारी व्याधि है।

विवेचन :—

छर्दि में आमाशयस्थ अन्न मुख से वाहर निकलता है। अन्न का मुख से वाहर निकलना 'विमार्गगमन' कहलाता है जोकि अन्न-वह स्रोतोदुष्टि का लक्षण है (च० वि० ५।८-९)। विमार्गगमन के लिए स्रोतोरोध उपस्थित रहता है। महास्रोतस के विभिन्न अवयव

वायु के कारण ही गति करते हैं। आमाशय की गति से अन्न ग्रहणी में जाता और वहाँ से पक्वाशय में भेजा जाता है। अतः भोजन की एक स्थान से दूसरे स्थान के लिए जो गति होती है, उसका कारण वात द्वारा संचालित आमाशयादि की गति ही होती है अतएव अन्न को निगलने का कार्य प्राणवायु की, और अन्न का आमाशय से पक्वाशय तक जाना समानवायु की, सहायता से होता है। यदि वायु की विकृति से आमाशय की विपरीत गति होने लग जाय तो अन्न मुख द्वारा बाहर निकल जाएगा। इसके अतिरिक्त आमाशय में अवरोध भी छर्दि का कारण बन सकता है। अवरोध आम से होता है।

आमविष से वातदुष्टि तथा अन्नवह स्रोतोदुष्टि होकर छर्दि हो जाती है। सर्वप्रथम अग्निमांद्य होता है जिससे आम या आम-विष की उत्पत्ति होकर छर्दि उत्पन्न हो जाती है। जो प्राणवायु अन्न को आमाशय तक पहुँचाता है वही वायु कफ या पित्त से आवृत्त होने पर उसे बाहर निकाल देता है।

(च० चि० २८।२१९)।

पूर्वरूप :—

१—जी मिचलाना (हृल्लास)।

२—अरुचि।

३—कफ प्रसेक।

४—खट्टी डकार (अम्लोद्गार) या मुख में लवण रस युक्त स्राव।

भेद :—

१. वातिक, २. पैत्तिक, ३. कफज, ४. सान्निपातिक, ५. द्विष्टार्थ संयोगज ।

लक्षण

वातिकछर्दि :—

१—वमन

(i) विछिन्न (ii) झागयुक्त
(iii) काला (iv) पतला
(v) कषाय रस का (vi) वेग महान और प्रवृत्ति अल्प

२—हृदय और पार्श्व में पीड़ा ।

३—शिर:शूल । ४—नाभि में वेदना ।

५—तोद । ६—कास ।

७—स्वर भेद । ८—मूर्छा ।

पैत्तिकछर्दि :—

१—वमन

(i) पीली, हरी, काली या भूरे रंग की । (ii) गरम ।
(iii) तिक्त (iv) वमन के समय गले और पेट में दाह ।

२—तृषा । ३—मुख का सूखना ।

४—शिरःशोष एवं तालुशोष ।

५—नेत्र संताप ।　　६—तमः प्रवेश ।

७—भ्रम ।　　८—मूर्छा

कफजछर्दि :—

१—वमन

(i) स्निग्ध　　(ii) घन
(iii) मधुर　　(iv) श्वेत एवं कफयुक्त
(v) वमन के समय लोमांच परन्तु वेदना अल्प ।

२—मुख माधुर्य　　३—प्रसेक
४—भारी मालूम होना　　५—तन्द्रा
६—निद्रा　　७—अरुचि
८—गौरव

सन्निपातिक छर्दि :—

१—वमन

(i) निरन्तर होती है　　(ii) लवण रस की या
(iii) अम्ल रस की　　(iv) नीली
(v) गाढ़ी　　(iv) उष्ण तथा रक्तयुक्त
(vii) मूत्र और पुरीष की गन्ध वाली ।

२—शूल　　३—अपचन

४—दाह ५—तृष्णा ६—श्वास
७—प्रमोह ८—अरुचि

असाध्य लक्षण :—

१—यदि वमन के साथ कास एवं श्वास भी हो।

२—रक्त एवं पूय युक्त वमन।

३—वमन का निरन्तर होना।

४—वमित द्रव्य में चन्द्रिका का दिखाई देना।

चिकित्सा :—

१—सभी प्रकार की छर्दियों में आमविष की उत्पत्ति होती है जो कि आमाशयस्थ पित्त की विकृति से होता है। अतः सर्वप्रथम आमपाचनार्थ लंघन तथा आमाशय शुद्धि के लिए वमन-विरेचन कराना चाहिए। कई बार दोषों की, प्रधानतः कफ की, आमाशय में उपस्थिति जानकर वमन करते हुए रोगी को और भी वमन कराया जाता है। वातिक छर्दि में वमन-विरेचन निषिद्ध हैं।

२—विरेचनार्थ हरड़ के चूर्ण को ६ माषा की मात्रा में मधु के साथ देना चाहिए और धामार्गव, जीमूत, कटुतुम्बी आदि वामक द्रव्यों से वमन कराना चाहिए।

३—दुर्बल रोगी को वमन विरेचनादि कर्म नहीं कराये जा सकते, अतः उसे मांसरस तथा लघु एवं शुष्क भोजन देकर संशमन चिकित्सा करनी चाहिए।

वातिक छर्दि-चिकित्सा :—

१—तीतर, मोर और लावा पक्षियों के मांसरस को अनारदाना, मरिच तथा घृत से साधित करके देना चाहिए।

२—वृहत् पंचमूल, अनारदाना या कोई अन्य अम्ल द्रव्य तथा जौ—इनसे साधित यूप का प्रयोग करना चाहिए।

३—यदि हृद्द्रवत्व उपस्थित हो तो रोगी को सैंधवयुक्त घृत पिलाना चाहिए।

४—शंखभस्म २ मा० ३ वार नीम्बू पानक से देने पर लाभ होता है।

पैत्तिक छर्दि-चिकित्सा :—

१—निसोत के चूर्ण को द्राक्षा, विदारीकंद तथा ईख के रस के साथ देना चाहिए। इससे विरेचन होकर पित्त निकल जाता है तथा अपने मार्ग में आ जाता है।

२—शोधनान्तर लाजा के सत्तू अथवा लाजा से बनी पेया में मधु और खाँड मिलाकर रोगी को देवें।

३—रोगी को अंगूर का रस पीना चाहिए।

४—जामुन तथा आम के पत्तों का क्वाथ बनाकर उसमें मधु मिलाकर रोगी को पिलावें।

५—खस के चूर्ण को तण्डुलोदक के साथ देना चाहिए।

द्विष्टार्थ संयोगजछर्दि चिकित्सा :—

१—मन को प्रसन्न करने वाले आहार-विहार।

२—छर्दि अति तीव्र हो तो कोई छर्दिनाश पूर्वोक्त योग देना चाहिए।

सामान्य चिकित्सा :—

सभी प्रकार की छर्दि में निम्नलिखित औषधियाँ काम करती हैं—

(१) सूतसेखर ४ रत्ती मयूरपिच्छा भस्म ४ रत्ती
श्रृङ्गभस्म ४ रत्ती ऐसी एक मात्रा
आर्द्रक स्वरस से दिन में तीन बार।

(२) वृहत् वातचिन्तामणि ४ रत्ती
सितोपलादि चूर्ण १ माषा
श्रृङ्ग भस्म ४ रत्ती
ऐसी एक मात्रा नीम्बू के रस से दिन में तीन वार।

पथ्य—यव, गोधूम, शालिअन्न, कषाय, मुद्गयूष, द्राक्षा, बेर, नीम्बू, जाँगल मांस, लंघन।

अपथ्य—कोशानकी, यष्टिमधु, राई, व्यायाम।

१६.

अम्लपित्त

इस रोग में पित्त का अम्लगुण बढ़ता है जिससे रोगी को अम्लोद्गार, दाह, अपचन आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

निदान :—

१—विरुद्ध भोजन
२—दुष्ट भोजन
३—विदाही भोजन
४—अन्य पित्त-प्रकोपक अन्न पान

सम्प्राप्ति :—

उपर्युक्त निदानों से पित्त प्रकुपित्त होकर विदग्ध हो जाता है जिससे अम्लपित्त उत्पन्न होता है। पाचकपित्त की भोजन पर क्रिया होने से भोजन की मधुरीभाव, अम्लीभाव और कटुभाव की अवस्थाएं उत्पन्न होती हैं। मधुरीभाव में कफ की उत्पत्ति, अम्लीभाव में पित्त की और कटुभाव की अवस्था में वात की उत्पत्ति होती है। आमाशय से ग्रहणी में जाते समय अन्न विदग्ध होकर अम्लीभूत हो जाती है। यदि पहले से ही पित्त की कुछ दुष्टि हो तो वह इस अवस्था में विदग्ध होकर अम्लीभूत हो जाता है और जो पित्त वहाँ बनता है वह अधिक अम्लगुणयुक्त होता है, परिणामतः अम्लपित्त हो जाती है। यदि वह पित्त ग्रहणी में चला जाय तो वह पक्वाशय से होते हुए गुदामार्ग से मल के साथ बाहर निकलता है। तब उसे अधोग अम्लपित्त कहते हैं। यदि वह पित्त वमन के साथ

मुख से प्रवृत्त होवे, तव उसे ऊर्ध्वग अम्लपित्त कहते हैं। यदि बहुत दिनों तक रोगी को अम्लपित्त रहे तो पित्त ग्रहणी या आमाशय में शोथ, दाह तथा पाक कर सकता है और तब वह कृच्छ्रसाध्य हो जाता है। अतएव नवीन अम्लपित्त साध्य और पुराना अम्लपित्त कृच्छ्रसाध्य बतलाया गया है।

अम्लपित्त में पित्त की कुछ सर्वांगीण विकृति भी होती है जिससे भोजन का ठीक पाचन नहीं होता हैं और आम की उत्पत्ति हो जाती है।

सामान्य लक्षण :—

१—अविपाक
२—तिक्त तथा अम्ल उद्गार
३—हृदय एवं कण्ठ में दाह
४—अरुचि
५—उत्क्लेश
६—क्लम
७—गौरव

भेद :—

प्रवृत्ति के भेद से अम्लपित्त दो प्रकार का होता है।

१—ऊर्ध्वग अम्लपित्त और २—अधोग अम्लपित्त।

दोषों के अनुसार वातानुबंधी, कफानुबंधी तथा वातकफानुबंधी भेद से तीन प्रकार का होता है।

ऊर्ध्वग अम्लपित्त के लक्षण :—

१—वमन

(i) अतीव अम्ल तथा कभी-कभी विविध रसयुक्त।

(ii) अति पिच्छिल, श्लेष्मयुक्त, मांसोदक के समान।

(iii) हरित, पीत, नील, कृष्ण, आरक्त, रक्ताभ।

२—अम्लोद्गार

३—भोजन करने पर अथवा बिना भोजन के भी अम्ल वमन।

४—हृत्प्रदेश, कुठी तथा कण्ठ म दाह। ५—शिर:शूल।

अधोग अम्लपित्त के लक्षण :—

१—दाह युक्त द्रवमल प्रवृत्ति, (कभी मल द्रव्य नहीं भी होता हैं)

२—तृष्णा ३—दाह

४—मूर्छा ५—भ्रम

६—कभी-कभी हृल्लास, कोठ, स्वेद, लोमहर्ष तथा अंग पीतवर्ण के हो जाते हैं।

वातिक (वातानुबंधी) अम्लपित्त के लक्षण :—

१—उदर में शूल २—शरीर में चिमचिमाहट

३—लोमहर्ष ४—तम: प्रवेश

५—कम्प ६—प्रलाप, मूर्छा

७—गात्रशैथिल्य

कफज (कफानुबंधी) अम्लपित्त के लक्षण :—

१—कफ निष्ठीवन २—गौरव

३—अरुचि ४—गात्रशैथिल्य

५—वमन ६—दुर्बलता

७—कण्डू तथा निद्रा

वातकफानुबन्धी अम्लपित्त में वातिक और कफज दोनों के लक्षण मिलते हैं।

चिकित्सा :—

१—सर्वप्रथम रोगी का वमन विरेचन आदि से शोधन करना चाहिए।

२—अनुलोमनार्थ अविपत्तिकर चूर्ण, आमलक्यादि चूर्ण, अभयारिष्ट, त्रिफलाचूर्ण का प्रयोग करें।

३—बाह्य प्रयोगार्थ शतधौतघृत एवं चन्दन व लाक्षादि तैल की मालिश तथा चन्दनकर्पूरलेप का शरीर पर लेप करें।

४—अम्लपित्त में पित्त की दुष्टि तथा उसका अपने स्थान से ऊपर या नीचे जाना ही प्रधान विकृति है। अतः ऊर्ध्वग अम्लपित्त में विरेचन और अधोग अम्लपित्त में वमन कराकर पित्त को अपने स्थान में ले आना चाहिए। पित्त को निकालने के लिए विरेचन कराना श्रेष्ठ है।

५—अम्लपित्त में प्रवालपंचामृत, कुष्माण्ड खण्डावलेह, शतावरी मण्डूर तथा भूनिम्बादि क्वाथ का प्रयोग करें।

६—(१) जटामांसी चूर्ण १ माशा
माक्षिक भस्म २ रत्ती
प्रवाल भस्म १ रत्ती
सूत सेखर १ रत्ती
ऐसी एक मात्रा। दिन में ३ बार आमलकावलेह से।

(२) प्रवाल पंचामृत ३ रत्ती
माक्षिक भस्म २ रत्ती
अभ्रक भस्म १ रत्ती

ऐसी एक मात्रा दिन में तीन वार दूध+शर्करा से।

(६) काम दुहा ४ रत्ती
वंग भस्म १ रत्ती

ऐसी एक मात्रा। दिन में तीन वार मधु और दूध से।

पथ्य—लाजा, मुद्गयूष, गोधूम, यव, कुष्माण्ड, वास्तुक, पटोल, दाड़िम, गोदुग्ध, उष्णोदक+शर्करा+मधु।

अपथ्य—तिल, माष, कुलत्थ, कटु, अम्ल, लवण, गुरु अन्न, दधि, मद्य।

२०.

विषूचिका

इस रोग में रोगी को बार-बार कै (वमन) तथा द्रवमल प्रवृत्ति होती है और उदर में सूई चुभाने के समान वेदना होती है।

निदान :—

१—मिथ्या आहार विहार

२—अजीर्ण पर भोजन करना

३—अपरिमित एवं असंयमित भोजन

४—गन्दा पानी तथा भोजन

सम्प्राप्ति :—

सर्व प्रथम तीनों दोषों का प्रकोप होता है। अग्निमांद्य से आमविष की उत्पत्ति होती है। वायु द्वारा आंत्रों की गति बढ़ जाती है। कफ द्वारा भी अग्निमांद्य होता है। विषूचिका प्रबल आमविष की उत्पत्ति प्रधान घटना है। भोजन में गड़बड़ी विषूचिका को प्रधान हेतु है।

दोष—त्रिदोष   दूष्य—रस

स्रोतस—अन्नवह और पश्चात् पुरीषवह भी दुष्ट होते है।

स्रोतोदुष्टि-संग→अग्निमांद्य→आमविष। विमार्गगमन।

आमाशयोत्थ———आशुकारी व्याधि है।

लक्षण :—

१—अतिसार	७—हृत्प्रदेश में पीड़ा
२—वमन	८—शिर:शूल
३—प्यास	९—ऐंठन
४—उदर शूल	१०—जम्भाई
५—भ्रम	११—विवर्णता
६—दाह	१२—मूर्च्छा

विवेचन :—

विषूचिका एक त्रिदोषज व्याधि है। इसमें प्रबल अग्निमांद्य के फलस्वरूप तीव्र आमविष की उत्पत्ति होती है। यह आमविष ऊर्ध्व और अध:मार्ग से वमन और अतिसार के रूप में बाहर निकलता है। एक प्रकार से छर्दि और अतिसार की मिश्रित अवस्था बन जाती है। वमन तथा अतिसार से शरीर से रसधातुस्थ जलीयांश निकलता है और रोगी को तृष्णा लगती है। रसधातु की इस दुष्टि से हृदय में शूल होता है। जब शरीर से जलीयांश, जोकि स्निग्ध होता है, बाहर निकल जाता और उसकी पूर्ति नहीं हो पाती है, तब शरीर में वायु का प्रकोप होकर, ऐंठन, मूर्च्छा, भ्रम उत्पन्न हो जाते हैं। उदर में पूर्व ही वायु का प्रकोप रहता है जो जलीयांश की कमी होने पर और भी प्रकुपित हो जाता है और उदरशूल को उत्पन्न करता है। शरीर विवर्ण, त्वचा शुष्क, नेत्र गड्ढे में धँसे हुए, तथा रोगी दीन तथा सुस्त हो जाता है। विपूचिका आशुकारी व्याधि है अत: इसकी चिकित्सा शीघ्र ही प्रारंभ कर देनी चाहिए।

कफदुष्टि—आमाशय—अन्नवह स्रोतस—स्रोतोदुष्टि→ विमार्ग गमन

निदान→ |→ पित्तदुष्टि→ अग्निमांद्य→ आमविष→ |रसदुष्टि→ विषूचिका

वातदुष्टि—पक्वाशय—पुरीषवह स्रोतस—स्रोतोदुष्टि→ अतिवृत्ति
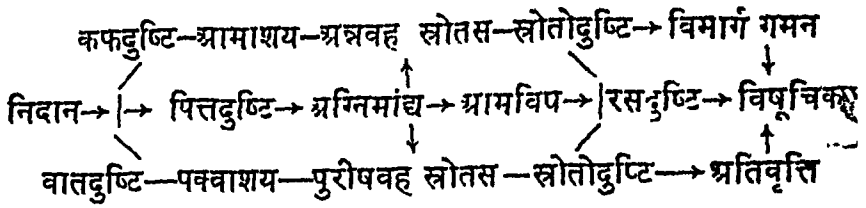
चिकित्सा :—

१—रोगी को थोड़ी-थोड़ी मात्रा में गरम पानी पीने को देना चाहिए। साधारणतः पानी का यथासंभव कम प्रयोग करना चाहिए। पानी में लवंग मिलाकर देना चाहिए।

२—यदि आम के लक्षण उपस्थित हों तो उसे प्रवृत्त होने देना चाहिए।

३—क्योंकि विषूचिका एक आशु प्राणहर व्याधि है अतः इसकी उपेक्षा न करके छर्दि तथा अतिसार को रोकने का प्रयत्न करना चाहिए।

४ कर्पूरासव ५-१५ बूंद की मात्रा में जल या अर्क पोदीना या अर्क सौंफ के साथ देना चाहिए।

५—अहिफेनासव ५-१५ बूंद तक की मात्रा में जल में मिलाकर देना चाहिए।

६- संजीवनी वटी ४-१२ रत्ती तक की मात्रा देना चाहिए।

७—अधिक प्यास लगने पर बरफ के टुकड़े चूसने को देना चाहिए।

८—यदि शरीर में जल की न्यूनता के लक्षण स्पष्ट हों तो रोगी

को आधुनिक उपकरणों की सहायता से लवणजल का सिरा द्वारा प्रयोग (Saline transfusion) कराना चाहिए।

९—हृदय की रक्षा का ध्यान रखना चाहिए और तदर्थ हृदय उपचार भी करने चाहिए।

१०—रोगी को गरम रखना चाहिए।

(१) संजीवनी वटी ४ रत्ती
समीरपन्नग रस ४ रत्ती
शंखोदर १ रत्ती
४ बार पलाण्डुस्वरस या चिंचाफल रस के साथ।

(२) हेमगर्भ १।२ भाग
शंखोदर ८ भाग
४-८ रत्ती मधु से दिन में ४ बार।

पथ्य—उपवास, पूर्ण विराम।

२१.

ग्रहणी रोग

ग्रहणी आमाशय के अन्तिम भाग (Pyloric end of the stomach) से प्रारम्भ होकर वृहदंत्र के प्रारम्भ तक(Ileo caecal valve) तक रहती है। संक्षेपतः लघ्वंत्र को ही ग्रहणी कहते हैं। महास्रोतस के दो विभाग किए जाते हैं—आमाशय और पक्वाशय। इस क्रिया-शारीर की दृष्टि से किये गए विभागों में से ग्रहणी आमाशय के अन्तर्गत ही आती है। शरीरक्रिया की दृष्टि से आमाशय का क्षेत्र अन्न-प्रणाली के अन्त से प्रारम्भ होकर वृहदन्त्र के प्रारम्भ तक (from stomach to Ileo caecal valve) रहता है।

ग्रहणी में अन्न का ग्रहण, पाचन, सारकिट्ट-विभजन और मल को पक्वाशय की ओर फेंकना—ये कार्य होते है। 'ग्रहणीरोग' से पता चलता है कि इसमें ग्रहणी नामक अवयव में दुष्टि आती है जिससे वह अन्न का धारण नहीं कर सकती और परिणामतः अन्न बिना पचे या अर्धपक्वावस्था में ही पुरीष के रूप में बाहर निकल जाता है।

ग्रहणी अग्नि अर्थात् पित्त का स्थान है। अतः ग्रहणी की विकृति में अग्निमांद्य और आम की उत्पत्ति होती है। यह आम और भी बिगड़कर आमविष बन जाता है और तब अतिद्रवमल प्रवृत्ति को उत्पन्न करता है। इस प्रकार अतिसार की उत्पत्ति हो जाती है। अतिसार रोग में भी अग्निमांद्य और आम अवश्य बनता

है। ग्रहणी प्रायः अतिसार के वाद उत्पन्न होती है। परन्तु कभी-कभी यह स्वतंत्र रूप से भी उत्पन्न हो जाती है।

ग्रहणी के सामान्य लक्षण :—

१—मल कभी द्रव और कभी बँधा हुआ।
२—भोजनोत्तर फौरन अपक्व अन्न की प्रवृत्ति,
३—तृष्णा ४—अरोचक ५—वैरस्य
६—आंखो के आगे अंधेरा छाना
७—हाथ-पैरों में शोथ मिल सकता है ८—अस्थियों में वेदन।
९—छर्दि और ज्वर १०—तिक्त, अम्ल और उद्गार

ग्रहणी के पूर्वरूप :—

१—तृष्णा २—आलस्य ३—वलक्षय
४—अरुचि ५—अन्त्रकूजन
६—अन्न का विदग्ध होना—खट्टी डकार आदि
७—शरीर का भारी रहना

ग्रहणी के भेद :—

ग्रहणी रोग ४ प्रकार का होता है—

१. वातिक ३. कफज
२. पैत्तिक ४. सान्निपातिक

वातिक ग्रहणी के हेतु :—

१—कटु, तिक्त, कषाय रस प्रधान भोजन

२—रूक्ष, शीतल भोजन
३—अध्यशन तथा अनशन
४—अधिक सफर करना (पैदल-चलना)
५—वेगधारण
६—अति मैथुन

वातिक ग्रहणी के लक्षण :—

१—अन्न कष्ट से पचता है
२—अन्न का विदाह होता है
३—कण्ठ और मुख शुष्क
४—भूख और प्यास खूब लग सकती है
५—छर्दि तथा अतिसार दोनों भी साथ हो सकते हैं
६—हृत्पीड़ा
७—कृशता तथा दुर्बलता
८—मुखवैरस्य, परिकर्तिका
९—सभी रसों की इच्छा
१०—भोजन के पचते समय या पच जाने पर आध्मान
११—मल-द्रव या शुष्क, कच्चा, शब्द और झागयुक्त
१२—रोगी को सन्देह होता है कि शायद उसे गुल्म, हृद्रोग या प्लीहारोग हो गया है।

पैत्तिक ग्रहणी के हेतु :—

१—कटु, अजीर्ण, विदाही, अम्ल तथा क्षार का सेवन।

पैत्तिक ग्रहणी के लक्षण :—

१—मल कच्चा, द्रव, नीले या पीले वर्ण का।
२—रोगी का वर्ण पीला हो जाता है।
३—दुर्गंधयुक्त खट्टे डकार।
४—हृदय और कण्ठ में दाह। ५—अरुचि एवं तृष्णा।

श्लैष्मिक ग्रहणी के हेतु—

१—गुरु, अतिस्निग्ध, शीत, मधुर और पिच्छिल द्रव्यों का अधिक सेवन करना।

श्लैष्मिक ग्रहणी के लक्षण—

१–हृल्लास, छर्दि
२–अरुचि
३–अन्न का पाचन ठीक नहीं होता है
४–मुख-मललिप्त
५–मुख का स्वाद मधुर
६–प्रतिश्याय
७–दुष्ट तथा मीठे डकार
८–मैथुन में अशक्ति एवं अनिच्छा
९–हृदय भारी लगता है
१०–मल कच्चा, कफाधिक, भारी
११–रोगी कृश नहीं रहता परन्तु दुर्बलता रहती है
१२–आलस्य।

सान्निपातिक ग्रहणी—

तीनों दोषों के सम्मिलित निदान एवं कारणों से ही सान्निपातिक ग्रहणी का ज्ञान किया जाता है।

विभेदक निदान—

	अतिसार	प्रवाहिका	ग्रहणी
१.	मल—द्रव, वार-बार प्रवृत्ति	मल—द्रव, साम सप्रवाहण,	मल—द्रव या शुष्क, प्रायः भोजन के फौरन बाद

२. अग्निमांद्य का समीप इतिहास	अग्निमांद्य का समीप इतिहास	अतिसार का इति-हास
३. पक्वाशय की विकृति	पक्वाशय की विकृति	ग्रहणी की विकृति
४. दोष वैषम्योत्पन्न	दोष वैषम्यो-त्पन्न	दोष वैषम्य एवं अवयव विकृति से उत्पन्न
५. आशुकारी	आशुकारी	चिरकारी
६. पक्वाशयोत्थ	पक्वाशयोत्थ	ग्रहणी–दुष्टि जन्य

चिकित्सा—

१—आमदोष के पाचनार्थ लंघन, दीपन तथा पाचन चिकित्सा करनी चाहिए।

२—वातिक ग्रहणी के रोगी को प्रथम आमपाचक औषध दें और पश्चात् अल्प मात्रा में वातशामक औषधों के सिद्ध घृतों का प्रयोग करें, यथा दशमूलादि घृत, त्र्यूषणादिघृत, पञ्चमूलादि घृत दें।

३—पैत्तिक ग्रहणी में सर्व प्रथम विरेचन कराना चाहिए और पश्चात् तिक्तरस प्रधान औषध का प्रयोग करना चाहिए।

४—श्लैष्मिक ग्रहणी में वमन कराना चाहिए और पश्चात् कटु, अम्ल, क्षार आदि से चिकित्सा करनी चाहिए। मधूकासव,

मूलासव, दुरालभासव, पिण्डासव आदि का प्रयोग करना चाहिए।

५—त्रिदोषज ग्रहणी में पंचकर्म कराना चाहिए और दीपन-पाचन चिकित्सा करनी चाहिए।

६—रोगी को दूध या तक्र पर रखना चाहिए। मसूर, मूंग, तक्र, बिल्व, अनार, बकरी का दूध, पथ्य के रूप में देना चाहिए।

७—ग्रहणी की चिकित्सा पर्पटीकल्प भी है। साधारणतः निम्नलिखित ७ पर्पटियों में से अवस्थानुसार किसी एक का प्रयोग करते हैं। पर्पटी को १ रत्ती से प्रारम्भ करके प्रतिदिन १ रत्ती बढ़ाते जाते हैं और १० रत्ती तक की मात्रा प्रतिदिन तक ले जाते हैं। कुछ दिन तक १० रत्ती प्रतिदिन चलता रहता है और पश्चात् १ रत्ती की मात्रा क्रमशः घटाते चलते हैं। पर्पटीकल्प ग्रहणी रोग की उत्तम चिकित्सा कहलाती है।

(१) रस पर्पटी।
(२) स्वर्ण पर्पटी—क्षयजन्य ग्रहणी विकार में।
(३) मंडूर पर्पटी—रक्तक्षय तथा कृमिविकार युक्त ग्रहणी में।
(४) विजया पर्पटी—सशोथ और जलोदरयुक्त ग्रहणी में।
(५) गगन पर्पटी—कास एवं श्वासयुक्त ग्रहणी में।
(६) ताम्र पर्पटी—प्लीहाभिवृद्धि युक्त अवस्था में। इसका प्रयोग सावधानी से करें कारण कि ताम्र की अधिक मात्रा के कुछ लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।
(७) अष्टामृत पर्पटी—ज्वर, वमन युक्त ग्रहणी में।

(८) व्यवहार में ग्रहणी रोग में पंचामृत पर्पटी का प्रयोग सर्वत्र किया जाता है।

(९) अन्य योग—ग्रहणी कपाट रस, ग्रहणी गजकेशरी रस, लोकनाथ रस, जातीफलादि चूर्ण, गंगाधर चूर्ण, जीरकादि चूर्ण, तथा त्र्यूपणादि वटी।

(१०) पंचामृत पर्पटी ३ रत्ती
प्रवाल पंचामृत ३ रत्ती — संजीवनी १ रत्ती
सुवर्ण पर्पटी १।४ रत्ती — ऐसी एक मात्रा

इसे दिन में तीन बार मधु से लेने पर बहुत लाभ होता है।

पथ्य—लंघन, जीर्ण शाल्यन्न, विलेपी, लाजमंड, कपित्थ, दाड़िम जामुन, बकरी का दूध, गोदुग्ध; लाव, शश तथा हरिण का मांस, निद्रा।

अपथ्य—अम्बुपान, गुरु-स्निग्ध भोजन, स्वप्न, अवगाहन, अभ्यंग, व्यायाम, अग्निसंताप।

२२.

आमाशयगत वात

लक्षण—

१—हृदय, नाभि, पार्श्व तथा उदर में शूल
२—तृष्णा
३—उद्गार
४—विषूचिका
५—कास
६—कण्ठ और मुख का सूखना
७—श्वास

चिकित्सा—

१—स्नेहपान कराना चाहिए।
२—दीपन-पाचन औषध देनी चाहिए।
३—यवक्षार का प्रयोग करें।
४—शोधन करने के पश्चात् वातशामक चिकित्सा करें।
५—चित्रक, इन्द्रयव, पाठा, कटुका, अतिविषा, अभया इनका प्रयोग करें। इनसे एक षड्धरण योग (सु. चि. ४) बनता है जो कि इस रोग में बहुत लाभदायक रहता है।

—

२३.

पुरीषवह स्रोतोगत वायु विकार

पुरीषवह स्रोतोमूल पक्वाशय वातका प्रधान स्थान है। जब वातका प्रकोप तथा स्थान संश्रय पुरीषवह स्रोतसमें ही होता है तब विभिन्न प्रकार के लक्षणों या रोगों की उत्पत्ति होती है जिनका वर्णन संक्षेपत: किया जा रहा है।

'पक्वाशयस्थ वात' के लक्षण—

१. आन्त्रों में गुड़गुड़ाहट
२. आन्त्र शूल
३. आटोप
४. मल एवं मूत्र की अप्रवृति
५. आनाह
६. त्रिक प्रदेश में पीड़ा

गुदस्थित वातके लक्षण—

१. मल, मूत्र एवं अपान वायु की अप्रवृत्ति।
२. आध्मान एवं शूल।
३. जंघा, त्रिक, पैर और पृष्ठमें पीड़ा व शोष।

पित्तावृत अपान के लक्षण—

१. मूत्र दाह।
२. मूत्र अति उष्ण होता है।
३. मूत्रमें रक्त आता है।

कफावृत अपान के लक्षण—

१. शरीरका अधोभाग भारी। २. शरीर का अधोभाग शीतल।

'तूनी' के लक्षण—

वात प्रकोप से एक प्रकार की पीड़ा मलाशय और मूत्राशय से प्रारम्भ होकर नीचे की ओर गुदा और मूत्रेन्द्रिय का भेदन सा करती हुई प्रतीत होती है। इसे तूनी रोग कहते हैं।

प्रतितूनी के लक्षण—

वात प्रकोप से एक प्रकार की पीड़ा गुदा और उपस्थ से प्रारंभ होकर ऊपरको ओर वेगों के रूप में पक्वाशय को जाती है। उसे प्रतितूनी कहते हैं।

आध्मान के लक्षण—

जिन वात निरोधजन्य व्याधियों में उदर में आटोप (गुड़गुड़ाहट), अत्यधिक पीड़ा तथा फुलाव हो, उसे आध्मान कहते हैं। यह एक आशुकारी व्याधि है।

प्रत्याध्मान के लक्षण—

इस अवस्था में कफ वायुको आवृत कर देता है। पार्श्व और हृदय को छोड़कर आध्मानके लक्षण जब आमाशय में मिलते हैं तब उसे प्रत्याध्मान कहते हैं।

वातोदावर्त के लक्षण—

अपान वायु के वेग को रोकने से वायु, मूत्र तथा पुरीष रुक जाते हैं, पेट फूल जाता हैं, शरीर में सुस्ती तथा पीड़ा होती है। इसके अतिरिक्त अन्य वातिक रोग (आमाशय-पक्वाशय गत होते हैं)।

पुरीषोदावर्तके लक्षण—

पुरीष के वेगका धारण करने से आटोप, शूल, परिकर्तिका, मलकी अप्रवृति एवं डकार अधिक आते हैं।

आनाह के लक्षण—

आनाह उस अवस्थाको कहते हैं जिसमें आमरस अथवा पुरीष आमाशय अथवा पक्वाशयमें क्रमशः संचित होते रहते हैं और विगुण वात से अवरुद्ध होकर अपने यथोचित मार्ग से नहीं निकल पाते हैं।

आमरसजन्य आनाह में—

१. प्यास। २. प्रतिश्याय।
३. शिरो विदाह। ४. आमाशयमें शूल तथा भारीपन।
५. हृदय का जकड़ा हुआ रहना। ६. डकार न आना

पुरीषज आनाह में—

१. कटि और पृष्ठ अकड़ जाते है।
२. मल तथा मूत्रकी अप्रवृति। ३. रोगी मूर्च्छित हो जाता है।

२. स्नेहन और स्वेदन करना चाहिए।

३. किसी दीपन-पाचन तथा वातशामक एवं वातानुलोमक औषध का प्रयोग किया जा सकता है।

४. हिंगु, त्रिकटु, वत्सनाभ, कुष्ठ, पुष्करमूल, लवण, जीरक, रास्ना, लहशुन, हरड़-इनका प्रयोग उपरोक्त अवस्था विशेषों में किया जाता है।

५. वात निरोध या पुरीष निरोध में आवश्यकता पड़नेपर वस्ति एवं गुदवर्तियोंका भी प्रयोग करते हैं।

६. हिंग्वष्टक चूर्ण, नाराच रस, पंचकोल चूर्ण, गंधक वटी, चाङ्गेरी घृत, कुमार्यासव, हरीतक्यादि चूर्णका प्रयोग अवस्थानुसार कर सकते हैं।

७. आवृत वायु की चिकित्सा में वातशामक औषधि के साथ आवरक दोष को शान्त करने वाली औषधि का मिश्रण करके दिया जाता है।

८. सन्निरुद्ध गुद की चिकित्सा उदर रोगों के प्रकरण में लिखेंगे। सन्निरुद्ध गुद में बिना ठीक परीक्षा किये विरेचन देना बहुत बड़ी भूल होती है।

९. *योग*—हिंग्वष्टक चूर्ण, लशुनादि वटी, अभयारिष्ट, स्रंसन चूर्ण, अग्नितुण्डी रस, विषतिन्दुक वटी, शंखवटी, वातविध्वन्सन, इनमें किसी का प्रयोग अवस्थानुसार करना चाहिए।

१०. आटोप की अवस्था में रोगी को अग्निमांद्य और पेट में

गुड़गुड़ाहट होती है। इस अवस्था में हिंग्वष्टक चूर्ण को घृत के साथ देना चाहिए।

११. आध्मान में आन्त्रों में वायु एकत्रित हो जाता है। इस अवस्था में शंखवटी २ गोली+वातविध्वंसन २ रत्ती+सर्पगंधा चूर्ण ४ रत्ती की मात्रा में देना चाहिए।

१२. आनाह में लशुनादि वटी, अविकासव और अभयारिष्टका प्रयोग बहुत लाभप्रद है।

२४.

अतिसार

अतिसार में द्रवमलकी बार-बार प्रवृत्ति होती है। किसी भी व्याधि में द्रवमलकी प्रवृत्ति निम्न लिखित कारणों में से किसी एक या सबके उपस्थित होने पर हो सकती है—

१—कोष्ठ में वातवृद्धि,
२—पित्त के द्रवगुण की वृद्धि और उष्णगुण की कमी,
३—पुरीषवह स्रोतस की विशिष्ट दुष्टि,
४—अग्निमांद्य और आमविष,

निम्नलिखित व्याधियों में अतिसार एक लक्षण के रूप में बतलाया गया है। इन रोगों में उपर्युक्त चार कारणों से कोई कारण उपस्थित रहता है। १. पैत्तिकज्वर, २. ग्रहणी, ३. विषूचिका, ४. कृमि, ५. पैत्तिकोदर, ६. जलोदर, ७. राज्यक्ष्मा, ८. पैत्तिक मूर्च्छा, ९. पैत्तिक मदात्यय, १०. वातपैत्तिक विसर्प।

अतिसार के निदान

१—गुरु, स्निग्ध, रूक्ष, उष्ण, द्रव, स्थूल, तथा शीतल पदार्थों का अधिक उपयोग करना।

२—विरुद्ध भोजन　　३—अध्यशन　　४—अजीर्ण
५—विषमाशन　　६—अति स्नेह-प्रयोग
७—स्नेह का मिथ्या प्रयोग　　८—विष　　९—भय

१०—शोक ११—प्रदुष्ट जल को पीना
१२—अति मद्यपान १३—सात्म्य और ऋतु के विपर्यय से,

सम्प्राप्ति—

स्वनिदान से प्रकुपित वात उदकवह—स्रोतों में जाकर वहाँ से उदक को कोष्ठ में लाकर उसी उदक से अग्नि को मन्द करके द्रव-मलका बार-बार निस्सरण कराता है,—तब अतिसार उत्पन्न होता है।

दोष—वात प्रधान दृष्य—मल (रस भी)
स्रोतस—पुरीषवह स्रोतस अवयव—पक्वाशय
स्रोतोदुष्टि लक्षण—अतिप्रवृत्ति आशुकारी—
पक्वाशयोत्थ—व्याधि

विवेचन—

अतिसार में द्रवमलकी अति प्रवृत्ति होती है। इसमें दो बातों का अनुमान होता है। प्राकृतमल संहत होता है और अतिसार में मल असंहत (द्रव) होता है। स्वस्थावस्था में मल की प्रवृत्ति दो बार होती है—प्रातः और सांय, परन्तु अतिसार में मलकी बार बार प्रवृत्ति होती है, मल के द्रव होने से मलका दृष्य होना ज्ञात हुआ और बार-बार प्रवृत्ति से पुरीषवह स्रोतोदुष्टि का अनुमान हुआ। मलकी बार-बार प्रवृत्ति पुरीषवह स्रोतोदुष्टि का "अति प्रवृत्ति" लक्षण कहलाता है। पुरीष को संहत बनाने के लिये पक्वाशयस्थ मलधरा कला के सक्रिय सहायक हैं—अग्नि और वायु। अतः मल का असंहत (द्रव) होना अग्नि और वायु की दुष्टिका द्योतक है।

पुराषवह स्रोतोमूल 'पक्वाशय' वातका प्रधान स्थान है । अतिसार में अग्निदुष्टि से अग्निमांद्य और आम की उत्पत्ति होती है । मल-का बार-बार निकलना जहा स्रोतोदुष्टि को बतलाता है वहा वायु की दुष्टि का भी द्योतक है । पूर्वोक्त विवरण से स्पष्ट है कि मल के द्रव होने तथा उसकी बार-बार प्रवृत्ति होने से वातदुष्टि का ज्ञान होता है और द्रवमल की अतिप्रवृत्ति लक्षण के आधार पर अतिसार में वात प्रधानदोष निश्चित किया जाता है ।

होता यह है कि मिथ्या आहार विहार से वातदुष्टि और अग्निमांद्य होता है । प्रदुष्ट वात एक ओर पुरीषवह स्रोतों को दुष्ट करता है और दूसरी ओर उदक को कोष्ठ में खींचकर अग्निमांद्य भी करता है । अग्निमांद्य से आम की उत्पत्ति होती है, आन्त्रों में शोथ होने पर भी वातदुष्टि और उससे उदक का वहाँ आना और अग्निमांद्य तथा आम की उत्पत्ति के साथ अतिसार का होना सरल-तया समझा जा सकता है । अस्तु वातदुष्टि और अग्नि दुष्टि से मलधरा कला द्वारा मलमूत्र विभाजन ठीक नहीं हो पाता । मलधरा कला स्वस्थावस्था में वायु के रूक्ष गुण और पित्त के उष्ण गुण से शोषण का कार्य करती है । वात और पित्त की दुष्टि होने पर मूत्रो-त्पादक जलीयांश का शोषण नहीं हो पाता, परिणामतः द्रवमल की बार-बार प्रवृत्ति होती है । संक्षेपतः—द्रवमल किसकी विकृति का द्योतक है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहना चाहिए कि द्रवमल उसकी विकृति का द्योतक है जो मल को संहत बनाता है । मल को संहत कौन बनाता है ? पक्वाशयस्थ मलधरा कला । किसकी सहायता से ? वात और पित्त की सहायता से । मल का द्रवत्व कैसे बढ़ता है और क्यों बढ़ता है ? या तो मलधरा कला द्वारा तत्रस्थ जल का शोषण

ही नहीं होता या प्रकुपित वात शरीर से उदक को पक्वाशय में लाकर मल को द्रव बना देता है। वार-वार प्रवृत्ति के सम्बन्ध में यह पूछा जाता है कि यह किसकी विकृति का द्योतक है। उत्तर में कहना चाहिए कि जो स्वस्थावस्था में मल की प्रवृत्ति कराता है वही अवस्था विशेष-अतिसारादि में मल की वार-वार प्रवृत्ति भी करा सकता है, और वह है वात। यह सत्य है कि जो प्रवृत्ति करा सकता है वही विकृत होकर अतिप्रवृत्ति या अप्रवृत्ति भी करा सकता है।

भेद—

अतिसार को मल की अवस्था के आधार पर दो प्रधान भागों में विभक्त किया गया है :—

१—*आमातिसार*—जिसमें मल के साथ आम निकलता है।
२—*पक्वातिसार*—जिसमें मल के साथ आम न निकलता हो।

यूं तो अतिसार में आम कुछ मात्रा में उपस्थित रहता ही है तथापि आमातिसार में अपेक्षाकृत अधिक रहता है और परीक्षा से ज्ञात होता है।

आम मल का पता लगाने के लिए मल की जलनिमज्जन परीक्षा की जाती है, मल के कुछ अंश को जल में डालें यदि वह डूब जाय तो आममल समझें, और यदि वह तैरता रहे तो पक्वमल समझें। लेकिन पक्वमल भी यदि निम्न गुणों से युक्त हो तो वह भी जल में डूब जाता है—

१—यदि पक्वमल अतिद्रव हो तो पानी में डूब जायगा।
२—यदि पक्वमल अधिक कठिन हो तो भी डूब जायगा।

३—यदि पक्वमल श्लेष्मा से युक्त हो तो भी डूब जायगा ।

४—यदि पक्वमल बहुत देर तक हवा में रहा हो तो भी डूब जायगा ।

चरक ने सुश्रुत और वाग्भट की तरह प्रवाहिका नाम की स्वतन्त्र व्याधि का वर्णन नहीं किया है । उसने आमातिसार के लक्षणों में ही 'प्रवाहण' लक्षण भी गिना है । अतः प्रवाहिका को चरक के आमातिसार में निहित समझना चाहिए । आम पिच्छिल होता है और पक्वाशय की भित्तियों पर लग जाता है । आमयुक्त पुरीष को बाहर निकालने के लिए पुरीषवह स्रोतस को अधिक संकोच-गति करनी पड़ती है । परिणामतः श्लेष्मयुक्त मल का प्रवाहण के साथ विसर्जन होता है ।

अतिसार की दोषानुसार सम्प्राप्ति

वातज अतिसार की सम्प्राप्ति—स्व निदानों से प्रकुपितवात अग्नि को मंद करके अप् धातु (मूत्र और स्वेद) को पुरीषाशय में लाकर उससे मल को पतला करके बार-बार द्रव मल का त्याग कराता है । अतिसार वात प्रधान व्याधि है, अतः अतिसार की सामान्य सम्प्राप्ति भी वातिक अतिसार के समान ही बतलाई गई है जिसका वर्णन पीछे किया जा चुका है । आधुनिक विज्ञान की भाषा में कहना हो तो कह सकते हैं कि जब आन्त्रों की श्लेष्मकलापर किसी भी कारण से प्रदाहोत्पादक प्रभाव पड़े तो उनसे शरीरस्थ जल का वहां स्राव होता है और उससे मल द्रव हो जाता है । साथ ही आन्त्रों में प्रदाह क्रिया के फलस्वरूप तीव्र गति भी होने लगती है जिससे द्रव मल का बार-बार निस्सरण होता है ।

पैत्तिक अतिसार की सम्प्राप्ति—प्रकुपित पित्त अपने द्रव गुण से पक्वाशयस्थ उष्मा को नष्ट करके अग्नि को मन्द करता है और अपने उष्ण, द्रव तथा सर गुण से मलभेद करके अतिसार को उत्पन्न करता है। आजकल के पाश्चात्य वैज्ञानिक भी इस तथ्य को मानते हैं कि पित्त आन्त्रों की गति को बढ़ाता है और अधिक पित्त यदि आन्त्रों में पहुँच जाये तो अतिसार उत्पन्न कर सकता है।

कफज अतिसार की सम्प्राप्ति—प्रकुपित कफ अपने गुरु, मधुर, शीतल एवं स्निग्ध गुण से अग्नि को मन्द करता है और पुरीषाशय में अपने सौम्यभाव से पुरीष को प।ला करके अतिसार को उत्पन्न करता है।

सान्निपातिक अतिसार में तीनों दोष प्रकुपित होकर अतिसार उत्पन्न करते हैं।

भयज एवं शोकज अतिसार—भय एवं शोक से भी वातवृद्धि हो जाती है, अतः इनकी सम्प्राप्ति वातातिसार की सम्प्राप्ति के समान है।

अतिसार के पूर्वरूप—

१. हृदय, नाभि, गुदा, उदर तथा कुक्षि में तोद।
२. शरीर-शैथिल्य।
३. अपाज वायु की अप्रवृत्ति।
४. विट् संग (मल नहीं उतरता)।

५. आध्मान।
६. अविपाक।

अतिसार

वातज	पित्तज	कफज	सान्निपातिक	शोकज	भयज
१. मल	१. मल	१. मल	१. तीनों दोषोंके मिश्रित लक्षण		
i अरुण वर्णका	i पात	i शुक्ल			
ii फेनिल	ii नील	ii सान्द्र			
iii रूक्ष	iii आलोहित	iii श्लेष्मयुक्त			
iv साम		iv विस्र			
		v शीत			
२. अल्प अल्प मल प्रवृत्ति	२. दाह	२. लोमहर्ष	२. शूकरके मेदके समान मल		
३. वार-वार मल प्रवृत्ति	३. तृष्णा	३. वाराह मांसके धावन के समान मल			
४. मल प्रवृत्ति के समय पीड़ा	४. मूर्च्छा				
५. सशब्द मल प्रवृत्ति	५. गुदपाक				

भेद—१. वातिक, २. पत्तिक, ३. कफज, ४. सान्निपातिक, ५. शोकज और ६. भयज—इस प्रकार अतिसार ६ प्रकार का होता

है। सुश्रुत ने भयज अतिसार के बदले अन्नाजीर्णज अतिसार लिखा है।

अन्नाजीर्णज अतिसार के निदान एवं लक्षणों के अध्ययन से पता चलता है कि उसका अन्तर्भाव चरकोक्त सान्निपातिक अतिसार में हो जाता है। सुश्रुतोक्त शोकज अतिसार की सम्प्राप्ति चरकोक्त सान्निपातिक अतिसार के समान है। चरक शोकज अतिसार को साध्य मानता है, लेकिन सान्निपातिक अतिसार को असाध्य मानता है।

रक्तातिसार—पित्तातिसार से पीड़ित पुरुष जब पैत्तिक आहार करता है तब उसे रक्तातिसार हो जाता है, वस्तुतः पित्तातिसार ही रक्तातिसार में परिणत हो जाता है।

असाध्य लक्षण—

१. यदि पके हुए जामुन के वर्ण के समान पुरीष आता हो।
२. यदि यकृत् खण्ड के समान कृष्ण लोहित वर्ण का पुरीष आता हो।
३. तनु (अल्प, स्वच्छ) मल।
४. घृत, तैल, वसा, मज्जा, वेसवार, दूध और दही के समान मल आता हो।
५. मांस धावन के समान मल।
६. कृष्ण तथा नीलवर्ण का मल।
७. काला, चितकवरा तथा चन्द्रिकायुक्त मल।
८. शवगंधि तथा अत्यन्त दुर्गन्धित मल।
९. तृष्णा, दाह, तम, श्वास, हिक्का, पार्श्वशूल, अस्थिशूल, मूर्च्छा तथा अरति लक्षणों से युक्त अतिसार।

१०. गुदवलियों का पाक हो गया, गुद बन्द न होती हो या गुदपाक हो गया हो।

चिकित्सा—अतिसार की चिकित्सा के संबन्ध में विचार करने पर चिकित्साके दृष्टिकोण से तथा अतिसार की विभिन्न अवस्थाओं को देखकर अतिसार को निम्नलिखित भागों में बाँटा जा सकता है—

अतिसार

आमातिसार			पक्वातिसार		
विकृति			विकृति		
अल्प दोष	मध्यदोष	बहुदोष	प्रवाहिका	वर्चक्षय	गुदभ्रंश
चिकित्सा					
लंघन	दीपन पाचन	प्रवर्तन	ईसबगोल का प्रयोग	धान्ययूष, तण्डुल, मांसरस, बिल्वकाप्रयोग	स्नेहन स्वेदन गुदाको अपने स्थानपर स्थिर करना
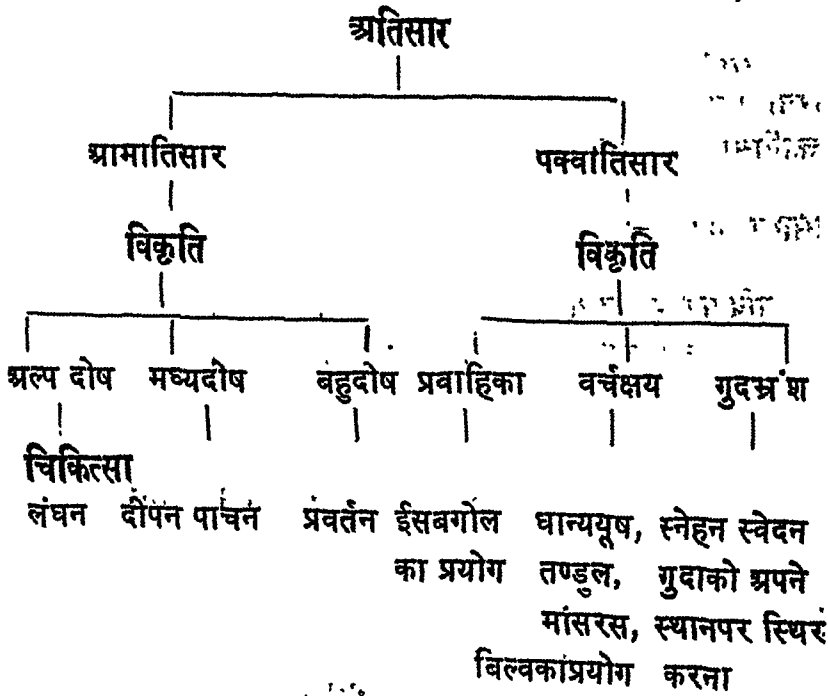
१. यदि दोष अल्प बल वाले हों तो सर्वप्रथम लंघन करना चाहिये। लंघन से ही दोषों की विकृति ठीक हो जायगी, अग्निमांद्य दूर हो जायगा।

२. आमातिसार में प्रथम संग्राहक औषध नहीं दी जानी चाहिए। आमातिसार में संग्राहक औषध देने से दोष शरीर में रुक कर शोथ, पाण्डु, कुष्ठ, गुल्म, उदर, ज्वर आदि अनेक व्याधियों को उत्पन्न कर देता है। परन्तु यदि रोगी अत्यन्त दुर्बल हो तो आमातिसार में भी संग्राहक औषध दी जा सकती है।

३. आमातिसार में यदि दोष अल्प मात्रा में प्रवृत्त हो रहे हों और रोगी बलवान हो, तब दोषों को बाहर निकालने के लिए ईसबगोल की भूसी, एरण्ड तैल या हरीतकी और पिप्पली के चूर्ण को उष्णोदक के साथ देना चाहिए। इनसे विरेचन होकर दोषों की सम्यक् प्रवृत्ति हो जाती है।

४. यदि दोष मध्यम हो तो दीपन-पाचन प्रमथ्याओं का प्रयोग करना चाहिए। यथा-पिप्पल्यादि प्रमथ्या ह्रीवेरादि प्रमथ्या और पृश्निपर्ण्यादि प्रमथ्या का प्रयोग।

५. दीपन और संग्राहीगण की औषधियों से साधित अन्नपान प्रयुक्त करने चाहियें।

६. भोजनार्थ तक्र, कांजी, यवागू तथा लाजा के सत्तू का प्रयोग करना चाहिये।

७. यदि आम पाचन हो गया हो, लेकिन प्रवाहिका अभी उपस्थित हो तो रोगी को कोई मृदु विरेचक औषध या कच्ची बेलगिरी के साथ सम प्रमाण में तिल के कल्क को मिलाकर उसमें खट्टे दही की मलाई और घी या तैल मिलाकर प्रयुक्त करें अथवा दुग्ध, घृत और अनार रस को मिलाकर प्रयुक्त करें।

८. यदि पुरीष केवल पानी की तरह द्रव हो गया हो तो धान्ययूष के साथ शालि चावल खिलाना चाहिए। पुरीषक्षय के लक्षण उपस्थित हो तो 'छागान्तराधियूष' का प्रयोग किया जा सकता है। *छागान्तराधि*—इसमें मेष (मेढ़े) के धड़केमांस का मांस रस तैयार किया जाता है जिसमें मेढ़े का ही रक्त भी मिलाया जाता है। घी, धनियाँ, शुण्ठी डालकर माँस रस तैयार किया जाता है। इस माँस रस को स्वतन्त्र या ओदन (भात) के साथ रोगी को दिया जाता है।

९. यदि गुदभ्रंश हो गया हो तो प्रथम स्नेहन और स्वेदन कराकर गुदा को स्वस्थान स्थित करना चाहिए तथा रोगी को चाङ्गेरीघृत का पान करायें। चव्यादि घृत का भी प्रयोग करें।

१०. उपर्युक्त सभी सामान्य सिद्धान्त हैं। जिस दोष के लक्षण प्रबल दीखते हों, उस दोष को शांत करने वाली औषधियों का प्रयोग भी साथ में किया जाना चाहिए।

११. पित्तातिसार में यदि आम के लक्षण हो तो लंघन कराना चाहिए। प्यास लगने पर मोथा, पित्तपापड़ा, खस, सारिवा, रक्त-चन्दन, चिरायता तथा सुगंध वाला इनसे साधित जल पीने को देवें। पित्त के लक्षणों के उग्र होने पर विरेचन कराना चाहिए। पित्तातिसार नाशक ६ योग नीचे लिखे जाते हैं—

(१) चिरायता, मोथा, इन्द्र जौ तथा रसौंत सबका चूर्ण बनाकर मधु से प्रयुक्त करें।

(२) बेलगिरी, दारुहल्दी, सुगंध वाला तथा दुरालभा का चूर्ण बनाकर मधु से।

(३) लालचन्दन, लोध, सोंठ, लोध्र तथा नीलोत्पल का चूर्ण बना कर मधु से ।

(४) तिल, मोचरस, लोध्र, लज्जालु, श्वेत कमल तथा नीलोत्पल का प्रयोग करें ।

(५) नीलोत्पल, धाय के फूल, अनार का छिलका तथा सोंठ इनका चूर्ण बनाकर ।

(६) कट्फल, सोंठ, पाठा, जामुन की गुठली, आम की गुठली तथा दुरालभा का प्रयोग ।

१२. रक्तातिसार में मधु और खाँड से युक्त बकरी का शीतल दुग्ध पीने को देना चाहिए । बकरी के दूध के साथ लाल शालि चावलों का भात खिलाना चाहिए । रक्त के अधिक निकल जाने पर रोगी को धीमें भर्जित मृग या बकरे का रक्त देना चाहिए । मक्खन में मधु और खांड मिलाकर देना चाहिए । नीलोत्पल, मोचरस, समङ्गा तथा कमल केशर के चूर्ण को दो माशा की मात्रा में बकरी के दूध के साथ दें । शतावरी के कल्क को दूध के साथ पिलाना चाहिए ।

१३. यदि गुदपाक हो गया हो तो पटोलपत्र और मुलहठी के अत्यन्त शीतल क्वाथ से गुदा का सिंचन करना चाहिए । ईख के रस से या बकरी के दूध से गुदा का परिसिंचन करना चाहिए । धाय के फूल, लोध्र तथा उड़द इनके कल्क को गुदा पर लगावें या इनका चूर्ण बनाकर गुदा पर लगावें । गुदा पर शतधौत घृत या चन्दनाद्य तैल लगावें । गुदा पर घृत और तैल में भिगोया हुआ पिचु (रुई) रखना चाहिए ।

पिच्छावस्ति—इसका प्रयोग तब किया जाता है जब अल्प मल, सवेदन, सरक्त आता हो और अपान वायु की ठीक प्रवृति न होती हो।

१४. कफज अतिसार में—

(१) पिप्पली, पिप्पलीमूल, चित्रक तथा गजपिप्पली का प्रयोग करें।

(२) कुष्ठ, अतीस, पाठा, चव्य और कटुकी का प्रयोग करें।

(३) कैथ की मज्जा, वायविडंग, शुण्ठी तथा काली मिर्च का प्रयोग।

(४) जामुन की छाल, सोंठ, धनियाँ, पाठा मोचरस तथा बला का प्रयोग।

१५. सान्निपातिक अतिसार में क्रमशः वात, पित्त तथा कफ को जीतना चाहिए या जिस दोष के लक्षण प्रबल हों, उसकी सर्व-प्रथम चिकित्सा करनी चाहिए।

१६. कुटजकल्प कराना चाहिए।

१७. दुर्बल रोगी को—

(१)	पंचामृत पर्पटी	३ रत्ती
	प्रवाल पंचामृत	३ रत्ती
	संजीवनी वटी	१ रत्ती
	सुवर्ण पर्पटी	¼ रत्ती

ऐसी एक मात्रा

कुटजारिष्ट या कुटजावलेह के साथ दिन में २ वार।

अगर उपर्युक्त औषध नहीं हो तो—

सुवर्ण पर्पटी	1/4 रत्ती
पंचामृत पर्पटी	३ रत्ती

मधु से ३ वार दिन में।

या

अहिफेन	1/2 रत्ती
चिंचाबीज चूर्ण	४ रत्ती
जातिफल चूर्ण	४ मा०

ऐसी एक मात्रा दिन में तीन वार तक्र या पानी से।

ग्रहणी रोग के समान हैं।

—

२५.

प्रवाहिका

इस रोग में प्रवाहण युक्त द्रव मल निकलता है। बहुत जोर लगाने पर अल्प मल वार-वार आता है। इस रोग का प्रत्यात्म लक्षण 'प्रवाहण' है। चरक ने इसका अन्तर्भाव आमातिसार में ही किया है। इस रोग में भी अतिसार की तरह अग्निमांद्य तथा आम उत्पन्न होता है। यह आम पुरीषवह स्रोतस में चिपक जाता है जिसे निकालने के लिए जोर लगाना (प्रवाहण करना) पड़ता है। प्रवाहिका में प्रायः साम तथा श्लेष्मायुक्त पुरीष निकलता है।

सम्प्राप्ति—मिथ्या आहार विहार से प्रकुपित वायु संचित कफ को पुरीष मार्ग से बाहर निकालता है और प्रवाहिका रोग उत्पन्न करता है।
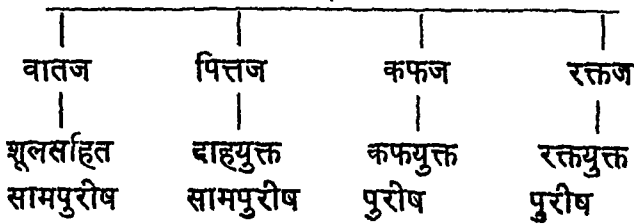
चिकित्सा :—

१—दीपन-पाचन द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए।

२—एक रात्रि में ईसबगोल की भूसी देकर कफ को पुरीष के साथ निकालना चाहिए।

३—कुटज पर्पटी ४ रत्ती की मात्रा में दिन में ३ वार मधु के साथ देना चाहिए।

४—बिल्व युक्त औषध ठीक कार्य करती है।

५—रक्तज प्रवाहिका में रक्तस्तम्भक योग भी देने चाहिए।

६—सभी चिकित्सा आमातिसार की तरह की जा सकती है।

२६.

गुल्म

इस व्याधि में रोगी को पेट में गोला सा मालूम होता है और कभी-कभी यह गोला रोगी के उदर पर देखा भी जाता है।

गुल्म के स्थान :—

१. हृत्प्रदेश
२. पार्श्व प्रदेश
३. नाभि प्रदेश
४. वस्ति प्रदेश
५. उदर प्रदेश

गुल्म के सामान्य लक्षण :—

१. अरुचि
२. मल मूत्र त्याग में कष्ट
३. पेट में वायु
४. आन्त्र कूजन
५. आनाह
६. वायु की ऊर्ध्वगति

गुल्म के भेद :—

गुल्म पांच प्रकार का होता है। रक्तज गुल्म केवल स्त्रियों में ही होता है।

१. वातज, २. पैत्तिक, ३. कफज, ४. सान्निपातिक, ५. रक्तज (केवल स्त्रियों में)

विवेचन :—

गुल्म (झाड़ी) वत् आकृति को 'गुल्म' कहा गया है। यह एक प्रकार का उठाव-गोला-सा बन जाता है। जो रोगी के उदर, वस्ति तथा नाभि प्रदेश में देखा जा सकता है, परन्तु हृत्प्रदेश और पार्श्व में देखा नहीं जा सकता। वहाँ अनुभव गम्य होता है।

रोगी को वह गोला कभी हृत्प्रदेश और कुक्षिप्रदेश में जाता हुआ अनुभव होता है। यह गोला सञ्चरणशील या अचल रहता है और घटता बढ़ता रहता है। गुल्म एक वात प्रधान व्याधि है। वायु गोले के रूप में उठकर उदर में गति करता है और पूर्वोक्त पाँच स्थानों में किसी स्थान पर चला जाता है। जब गुल्म केवल वातिक हो तो वह चल होता है और घटता बढ़ता रहता है। जब गुल्म में वायु के साथ पित्त और कफ का अनुबन्ध भी हो जाता है तब वह अचल और एक स्थान पर स्थित हो जाता है। वात सर्व प्रथम पक्वाशय में प्रकुपित होता है तब ऊपर की ओर जाकर नाभि तथा आमाशय में जाता है। वातिक गुल्म का विशेष स्थान पक्वाशय हैं। पैत्तिक गुल्म का विशेष स्थान नाभि और कफज गुल्म का स्थान आमाशय (उदर, हृत्प्रदेश तथा कुक्षि में भी) है।

पैत्तिक गुल्म का पाक होना भी बतलाया गया है। पैत्तिक गुल्म को इसीलिए अपक्व गुल्म, विदह्यमान गुल्म और पक्वगुल्म इन तीन अवस्थाओं में विभक्त करते हैं। पाक होने पर विद्रधि बन जाती है। गुल्म का अन्तर्मुख (व्रणकामुख महास्रोतस में खुले) और वहिर्मुख (बाहर मुख) दो प्रकार का पाक बतलाया गया है। वस्तुतः गुल्म का पकना व्यवहार में देखा नहीं जाता।

निदान

वातज गुल्म :—

१. रूक्ष अन्नपान का सेवन करना २. विषम भोजन या अध्यशन
३. बैठे रहना-चेष्टाहीनता ४. वेग धारण
५. शोक ६. अभिघात
७. अतिमल क्षय ८. उपवास

पैत्तिक गुल्म :—

१. कटु, अम्ल, उष्ण, तीक्ष्ण, विदाहि तथा रूक्ष अन्नपान सेवन।
२. क्रोध ३. अति मद्यपान ४. सूर्य या आग का अति सेवन।
५ आमरस ६. रक्तदुष्टि

कफज गुल्म :—

१. शीत, गुरु और स्निग्ध अन्नपान का सेवन
२. चेष्टा न करना ३. अति भोजन ४. दिवास्वप्न

सान्निपात्कि गुल्म :—

१, तीनों दोषों के मिश्रित निदान

रक्तज गुल्म :—

१. प्रसूतिका के बाद भोजन की अनियमितता।
२. आमगर्भका गिरना।

लक्षण

गुल्म

वातिक	पैत्तिक	कफज	सान्निपातिक	रक्तज
१. चल	१. ज्वर	१. शीतपूर्व	१. महारुक्	१. पैत्तिक गुल्म के समान लक्षण
२. वेदना कभी तीव्र कभी अल्प	२. पिपसा	२. स्तैमित्य	२. दाह	२. सगर्भावस्था के लक्षण मिलते हैं परन्तु गर्भ के अंगो की हलचल का ज्ञान नहीं होना तथा अग्निके पिण्ड सा ज्ञात होता है
३. अपना वायु और मल की अप्रवृत्ति	३. अङ्गराग	३. गात्रसाद	३. कठोर और उन्नत	
४. गला और शरीर शुष्क रहता है	४. भोजन पचते समय	४. हृल्लास	४. शीघ्रपाकी	
५. गुल्म का स्थान श्याव और अरुण	५. स्वेद	५. कास	५. दारुण	
६. शीत पूर्वक ज्वर	६. व्रणवत्-विदाह	६. अरुचि	६, मन, शरीर तथा अग्निके बलका नाश	
७, हृदय कुक्षि पार्श्व अंश शिर वेदना	७, स्पर्शासिहत्व	७, गौरव		
८, भोजनके पचने पर बढ़ता है		८, शीत लगना		
९, भोजन के करने फौरन बाद शान्त होता है		९, अल्प वेदना		
		१०, गुल्म कठिक और उन्नत		

चिकित्स :—

१. वातिक गुल्म में प्रथम स्नेहपान करना चाहिए। स्नेहयुक्त भोजन, अभ्यंग, पान, निरूहवस्ति और अनुवासन द्वारा रोगी का स्नेह न करावें। यदि गुल्म नाभि से ऊपर हो तो स्नेहपान करावें और यदि गुल्म पक्वाशय में हो तो वस्ति दें। यदि गुल्म दोनों स्थानों पर हो तो स्नेहपान और वस्ति दोनों का प्रयोग करें।

२. स्नेहनोपरान्त स्वेदन करना चाहिए। इससे स्रोतस मृदु होते हैं और वात की शान्ति होती है।

३. रोगी की अग्नि दीप्त हो तो उसे भोजनार्थ स्निग्ध, उष्ण एवं बृंहण अन्नपान देना चाहिए।

४. स्नेह या स्वेद के प्रयोग से यदि कफ या पित्त के कुछ लक्षण उत्पन्न हो जाँय तो वमन विरेचन द्वारा उनकी भी चिकित्सा करनी चाहिए।

५. यदि उपर्युक्त चिकित्सा से लाभ न हो तो रक्तावसेचन करना चाहिए।

६. पैत्तिक गुल्म में यदि वह स्निग्ध और उष्ण निदान से उत्पन्न हुआ हो तो स्रंसन करना चाहिए और यदि रुक्ष एवं उष्ण निदान से उत्पन्न हुआ हो तो घृतपान करना चाहिए। यदि पित्तगुल्म पक्वाशयस्थ होवे तो तिक्तद्रव्यों से सिद्ध दूध की वस्तियों का प्रयोग करे।

७. रोगी की अग्नि के बल को देखते हुए तिक्त द्रव्यों से सिद्ध सुखोष्ण दूध पिलाकर वमन कराना चाहिए। इस दूध में यथावश्यक तैल्वक घृत को भी मिला सकते हैं।

८. यदि पैत्तिक गुल्म में तृष्णा, ज्वर, दाह, शूल, स्वेद, अग्निमांद्य व अरुचि-ये लक्षण उपस्थित हों तो रक्तावसेचन करना चाहिए।

९. रक्तावसेचन के पश्चात् रोगी को जांगल पशुपक्षियों का मांसरस देना चाहिए। कुछ दिन बाद तक घृत का प्रयोग प्रतिदिन करें।

१०. यदि रक्त और पित्त की अत्यन्त दुष्टि होवे और गुल्म का विदाह हो जाय तो शस्त्रकर्म करना चाहिए।

११. कफज गुल्म में यदि वमन न किया जाय तो लंघन कराना चाहिए। यद्यपि गुल्म के रोगी को वमन कराना निषिद्ध है तथापि यदि रोगी की अग्नि मन्द हो, वेदना मन्द हो, कोष्ठ भारी और जकड़ा हुआ हो और उत्क्लेश हो तो उसे वमन कराया जा सकता है।

१२. वमन या लंघन कराने के बाद उष्ण द्रव्यों का प्रयोग करें। कटु एवं तिक्तरस औषधों से युक्त आहार का प्रयोग करना चाहिए।

१३. यदि गुल्म उन्नत और कठिन हो तो उसका स्वेदन करके विलयन करना चाहिए।

१४. लंघन, वमन तथा स्वेदन के पश्चात् यदि रोगी की अग्नि दीप्त हो तो क्षार और कटु द्रव्यों से युक्त घृत का पान करावें।

१५. जब रोगी का कोष्ठ शुद्ध हो जाय और वायु का अनुलोमन हो गया हो तो कफशामक गुटिका, चूर्ण तथा क्वाथों का प्रयोग करें।

१६. यदि गुल्म बहुत बड़े स्थान को घेरे हुए हो और कठिन, स्तिमित एवं गुरु हो तथा जो जड़ जमाये (कृतमूल) हो तो उसे क्षार, अरिष्ट तथा अग्निकर्म द्वारा जीतना चाहिए।

१७. *योग*—वातज गुल्म में त्र्यूपणादि घृत, हिंगुसौवर्चलादि घृत, हपुषाद्य घृत, पिप्पल्यादि घृत, शिलाजतु प्रयोग, नीलिन्याद्य घृत, हिंग्वादि गुटिका, हिंग्वादि चूर्ण, लशुनक्षीर, नागरादि योग, तैलपंचक, अग्निकुमार रस, गुल्म कालानल रस।

पैत्तिक गुल्म में—रोहिण्यादि घृत, वासाघृत, त्रायमाणाद्य घृत, आमलकाद्य घृत, द्राक्षाद्य घृत, कुमार्यासव, प्रवाल पंचामृत, गुल्म कालानल रस।

श्लैष्मिक गुल्म में—तिल+एरण्ड बीज+अलसी+सरसों इनका लेप करके सुहाते गरम लोहे के पात्रों से स्वेदन करें। दशमूली घृत, भल्लातक घृत, पंचकोल घृत, मिश्रक स्नेह, कुमार्यासव, जम्बीर द्राव, ताम्र भस्म, शंखद्राव।

१८. रक्त गुल्म की चिकित्सा दस मास बाद करने को लिखा है, कारण कि तब गुल्म जीर्ण हो जाता है और आसानी से निकाला जा सकता है। साथ ही यदि रक्तज गुल्म और गर्भा

वस्था में ठीक तरह विभेद न किया जा सकता हो तब भी सुरक्षा की दृष्टि से दस मास तक रुकना उचित है। दस मास पश्चात् गुल्म का शस्त्र से निहरण करना चाहिए। यदि साधन उपलब्ध हो और निदान पूर्णरूपेण निश्चित किया जा चुका हो तो दस मास तक रुकने की आवश्यकता नहीं है।

रक्तगुल्म में निम्न लिखित योग प्रयुक्त किये जा सकते हैं :-

कुमार्यासव, गुल्मकुठार रस, गोक्षुरादि गुग्गुलु, प्रतापलंकेश्वर रस, भल्लातक घृत एवं नागभस्म।

१६. रक्तगुल्म को छोड़कर सभी गुल्मों में लाभकारक मिश्रण—

लशुनादि वटी	२ गो.	शतावरी मण्डूर	१ माशा
वात विध्वंसन रस	४ रत्ती	वज्रक्षार	१ रत्ती

ऐसी एक मात्रा

ऐसी तीन मात्रा दिन में तीन वार वरुणादि क्वाथ २ तोला से या पानी से लेना चाहिए।

पथ्य—जीर्णशाली, कुलत्थ यूष, वास्तुक, शिग्रु, लशुन, द्राक्षा, मातुलुंग, तित्तिर-मयूर-कुक्कुट मांस, गव्यघृत, तक्र, अजादुग्ध।

अपथ्य—माष, शूकधान्य, मत्स्य, मधुरफल, अधिक जल पीना, वेगधारण, वमन।

२७.

शूल

इस रोग में रोगी के उदर तथा अन्य भागों में शूल होता है।

वातिक शूल के निदान :—

१. अतिव्यायाम, अतिमैथुन, अति शीतल जलपान
२. सवारी पर अधिक चढ़ना ३. रात्रि जागरण
४. अत्यधिक रूक्ष पदार्थों का सेवन ५. आघात
६. कषाय तथा तिक्त रस प्रधान द्रव्यों का अधिक सेवन करना।
७. मल, मूत्र, शुक्र तथा वायु का वेग-धारण।
८. शोक, उपवास, अधिक हँसना, अधिक बोलना।

वातिक शूल की सम्प्राप्ति :—

उपर्युक्त कारणों से प्रकुपित वायु हृदय, पार्श्व, पीठ, त्रिक्, तथा वस्ति प्रदेश में शूल को उत्पन्न करता है।

वातिक शूल के लक्षण :—

१. यह शूल बार बार घटता बढ़ता रहता है।
२. भोजन के पच जाने पर, सायंकाल के समय, वर्षाऋतु और शीतकाल में अधिक होता है।
३. इसमें मल और वायु का अवरोध होता है।
४. सुई के चुभने के समान वेदना होती है।

५. स्वेदन, अभ्यंग, मर्दन तथा स्निग्ध और उष्ण भोज्य पदार्थों से शान्त हो जाता है।

पैत्तिक शूल के निदान :—

१. क्षार, अतितीक्ष्ण, उष्ण एवं विदाही पदार्थों का अधिक सेवन करना।
२. तेल, सेम, सरसों, तिल की खली तथा कुलत्थी के यूष का अधिक दिन तक सेवन।
३. चरपरा, खट्टा, काञ्जी तथा मद्य का सेवन।
४. क्रोध, अग्नि तापना, धूप का अति सेवन।

पैत्तिक शूल की सम्प्राप्ति :—

उपर्युक्त कारणों से भोजन विदग्ध हो जाता है। जिससे पित्त प्रकुपित होकर नाभि प्रदेश में शूल को उत्पन्न करता है।

पैत्तिक शूल के लक्षण :—

१. तृषा २. दाह ३. मोह ४. पीड़ा
५. स्वेद आना ६. मूर्च्छा तथा भ्रम
७. यह शूल मध्याह्न, अर्धरात्रि, भोजन पचते समय तथा शरद् ऋतु में बढ़ता है।
८. शीतकाल में शीतल पदार्थों के सेवन से, मधुर व शीतल आहार से यह शूल शान्त हो जाता है।

श्लैष्मिक शूल के निदान :—

१. आनूप तथा जलचर प्राणियों के मांस का अति सेवन।

२. गन्ने का रस, उड़द की पीठी, तिल की कचौड़ी, माँस, दूध के बने पदार्थ-इनका अति सेवन ।

श्लैष्मिक शूल की सम्प्राप्ति :—

उपर्युक्त कारणों से आमाशय में कफ का प्रकोप होता है। पश्चात् वात का भी प्रकोप हो जाता है और आमाशय में शूल उत्पन्न होता है ।

श्लैष्मिक शूल के लक्षण :—

१. आमाशय में शूल
२. हृल्लास
३. अंगसाद
४. अरुचि
५. कोष्ठ बद्धता
६. शिरोगौरव
७, यह शूल भोजन के तुरन्त बाद, प्रातःकाल, शिशिर तथा वसन्त ऋतु में विशेष होता है ।

सान्निपातिक शूल :—

इसके निदान तथा लक्षण तीनों दोषों के पूर्वोक्त निदान एवं लक्षणों में से ही मिश्रित रूप में होते हैं । यह शूल अत्यन्त कष्ट-प्रद है ।

आमज शूल :—

इसके लक्षण कफज शूल के समान होते हैं । इसमें पेट फूलता है और उसमें गुड़गुड़ाहट होती है, हृल्लास, वमन, शरीर का भारी-पन, आर्द्र चर्म से आवृत होने के समान प्रतीति, आनाह तथा मुख से कफ का स्राव होता है ।

त्रिदोपज शूल :—

हृदय, पार्श्व तथा पृष्ठ का शूल वात श्लष्मिक होता है, कुक्षि तथा हृदय और नाभि के मध्य का शूल कफपित्ताज होता है वस्ति और नाभि में दाह और ज्वर युक्तशूल वात पित्ताज होता है।

साध्यासाध्यत्व :—

१. एक दोपज शूल साध्य होता है।
२. द्विदोपज शूल याप्य होता है।
३. अधिक-उपद्रव युक्त त्रिदोपज शूल असाध्य होता है।

लक्षण

परिणाम शूल

वातिक	पैत्तिक	कफज	द्विदोपज	त्रिदोपज
१. उदरका फूलना	१. प्यास	१. वमन	१. दो दोपों के मिश्रित लक्षण मिलते हैं	१. तीनों दोपों के मिश्रित लक्षण मिलते हैं।
२. पेट में गुड़गुड़ाहट	२. दाह	२. हृल्लास		
३. मल मूत्रका अवरोध	३. अतिस्वेद	३. मूर्च्छा		
४. काम में मन न लगना	४. कटु, अम्ल तथा लवण रससे शूल की शान्ति	४. चिरकाल तक थोड़ी-थोड़ी पीड़ा बनी रहती है।		
५. शरीर में कम्पन		५. कटु, तिक्त पदार्थों से शूल की शान्ति		
६. स्निग्ध, उष्ण पदार्थों से शान्त				

परिणाम शूल :—

निदान—शूलवत् ।

सम्प्राप्ति :—

प्रकुपित वात कफ और पित्त को आवृत करके परिणाम शूल को उत्पन्न करता है । यह शूल भोजन के परिपाक के समय होता है ।

अन्नद्रव शूल :—

१. यह शूल भोजन के पचने से पूर्व, पचते हुए या पचने पर होता है । अर्थात् भोजन से इसका कोई सम्बन्ध नहीं होता है ।
२. पथ्य या अपथ्य से भी शान्त नहीं होता है ।

चिकित्सा

१—शूल को शान्त करने के लिए वमन, लंघन, स्वेदन, पाचन, फलवर्ति प्रयोग, क्षार प्रयोग, चूर्ण तथा गुटिकाओं का प्रयोग किया जाता है ।

२—*वातिक शूल में*—स्नेहन, स्वेदन, मर्दन तथा स्निग्ध एवं उष्ण भोजन का प्रयोग किया जाता है । यदि शूल अल्प हो तो स्वेदन मात्र से लाभ हो जाता है । आतुरालयों में गरम जल की बोतल (Hot water bag) रोगी को वेदना युक्त स्थान में स्वेदनार्थ लगाने को दी जाती है ।

६—*पैत्तिक शूल में*—पित्तनाशक शीतल उपचार, घृतपान, विरे

चन, जाङ्गल मांस, शश तथा लावक का मांस एवं आमलकी चूर्ण को मधु के साथ देने से लाभ होता है ।

४—*श्लैष्मिक शूल में*—कफनाशक रूक्ष एवं उष्ण पदार्थों का सेवन, उष्णोदक का प्रयोग, हिङ्गु, पंचकोल, लवणत्रय के साथ उष्णोदक का प्रयोग करना चाहिए ।

५—*आमज शूल की*—चिकित्सा कफज शूल के समान करनी चाहिए । साथ ही दीपन पाचन चिकित्सा भी अवश्य करनी चाहिए ।

६—*परिणाम शूल में*—लंघन करके दोषानुसार वमन एवं विरेचन करना चाहिए ।

७—*अन्नद्रव शूल की*—चिकित्सा भी परिणाम शूल के समान करनी चाहिए ।

८—*योग—वातिक शूल में*—अग्निमुख रस, अभ्रसुन्दर रस, अमृत गर्भ रस, अमृत मण्डूर रस, कोलादि मण्डूर, ज्वालामुखी रस, पंचात्मक रस ।

वातिक शूल में—

(१) सामुद्रादि चूर्ण	१ माशा
स्वर्जिकाक्षार	½ माशा
	एक मात्रा

ऐसी दो मात्रा दिन में दो बार नीम्बू के रस के साथ दें ।

(२) शूलहर वटी	१ गोली
शंख वटी	१ गोली
	एक मात्रा

ऐसी दो मात्रा दिन में दो बार गरम पानी से ।

पैत्तिक शूल में—अग्निसंदीपन रस, अजीर्ण गजांकुश रस, अमरेन्द्र रस, अमृत मण्डूर रस, पुनर्नवा मण्डूर, शम्बूकादि वटी देना चाहिए ।

(१) शंख भस्म ३-६ रत्ती दिन में ३ बार शर्करा के साथ दें ।

(२) प्रवाल पंचामृत ३ रत्ती
कामदुघा ३ रत्ती
कर्पदिका भस्म ३ रत्ती
एक मात्रा

ऐसी तीन मात्रा दिन में तीन बार मधु के साथ दें ।

कफज शूल में—अग्निसन्निभा वटी, अजीर्ण कालानल रस, अभ्रवटी महती, अभ्रसुन्दर रस, अमृतेश्वर रस, उदयमार्तण्ड रस, वातिक शूल में कथित सामुद्रादि चूर्ण कफज शूल में भी दें ।

आमज शूल में—कफज शूलोक्त सभी औषध दे सकते हैं । उनके साथ अन्य कोई दीपन-पाचन औषध मिला सकते हैं ।

(१) एरण्ड तैल ६ भाग, हिंगु १ भाग
लहशुन ८ भाग, सैंधव ३ भाग

सब को मिलाकर $\frac{1}{2}$ तोला से १ तोले की मात्रा में शुण्ठी क्वाथ के साथ दिन में दो बार दें ।

परिणामज तथा अन्नद्रव शूल की चिकित्सा पित्तज शूल के

समान करनी चाहिए। इन दोनों अवस्थाओं में शतावरी घृत का प्रयोग लाभदायक होता है। इस घृत के साथ अन्य औषधियाँ भी दे सकते हैं।

पथ्य—जीर्णशाली, लघु अन्न, पटोल, कारवेल्लक, वास्तुक, शिग्रु, लहशुन, निम्बूपानक, उष्णोदक।

अपथ्य—विरुद्ध अन्नपान, विषमाशन, रूक्ष-तिक्तकषाय-शीतल-गुरु अन्न, मद्य, शिम्बि धान्य, तिल, आतप, जागरण, व्यायाम, वेगरोध, शोक, क्रोध।

२८.

कृमिरोग

साधारणत: कृमि २० प्रकार के होते हैं। इनमें सहज कृमियों का, जो अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं, समावेश नहीं है। ये कृमि आभ्यन्तर और वाह्य होते हैं। शरीर के ऊपर के मैल से उत्पन्न होने वाले यूका, लिक्षा आदि वाह्य कृमि और कोष्ठ आदि में उत्पन्न होने वाले गण्डूपद आदि अन्त:कृमि होते हैं। सुश्रुत ने कफज ६, पुरीषज ७ और रक्तज ७-इस प्रकार २० कृमि माने हैं।

आभ्यन्तर कृमि के लक्षण :—

१. ज्वर, २. विवर्णता, ३. शूल, ४. हृद्रोग, ५. सदन, ६. भ्रम, ७. भक्तद्वेप, ८. अतिसार।

कफज कृमि के लक्षण :—

ये कृमि पतले, केंचुवे के समान, छोटे और अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं और ऊपर-नीचे गति करते हैं।

१. हृल्लास, २. लालास्राव, ३. अपचन, ४. अरुचि, ५. कभीकभी मूर्च्छा, ६. वमन, ७. ज्वर, ८. कार्श्य।

रक्तज कृमि के लक्षण :—

ताँबे के रंग के समान बहुत सूक्ष्म होते हैं जिन्हें यन्त्रों की ही सहायता से देखा जा सकता है। कई भेद नहीं देखे जा सकते हैं। इनसे कुष्ठ रोग उत्पन्न होता है।

पुरीषज कृमि के लक्षण :—

ये कृमि लम्बे, गोल, पतले, मोटे, नीले, पीले, सफेद और काले होते हैं।

१. उदरशूल, २. अतिसार, ३. दौर्बल्य, ४. पाण्डुता, ५. मन्दाग्नि, ६. गुदकण्डू, ७. त्वचा-रूक्ष।

चिकित्सा :—

१—कृमि रोग की व्याधि प्रत्यनीक चिकित्सा ही की जाती है।
२—पलाशबीज या इससे निर्मित घनसत्व अच्छा लाभ करता है।
३—विडंग चूर्ण भी कृमिघ्न कार्य करता है।
४—कृमिमुद्गर रस, कृमिकुठार रस आदि योग प्रचलित हैं।

अपथ्य—क्षीर, गुड़, घृत, मधुरान्न, अम्लान्न, मांस, शीतल जल, काँजी और क्षार इनका प्रयोग नही करना चाहिए।

२६.

मूत्राघात

यह एक गम्भीर लक्षण है जो निम्नलिखित अवस्थाओं में मिलता है। इसमें मूत्र की अप्रवृति रहती है और मूत्र का निर्माण नहीं होता है। इसके तीन प्रधान कारण होते हैं।

१. वृक्कों की विकृति से मूत्र का निर्माण न होना।
२. वस्ति की मांसपेशी में संकोच शक्ति का अभाव।
३. गवीनियों या मूत्र मार्ग में किसी प्रकार का अवरोध।

वृक्क की विभिन्न विकृतियों में मूत्र नहीं छन पाता। परिणामत: मूत्राघात हो जाता है। इस अवस्था में मुख और पैरों में शोथ मिलता है। वस्ति की संकोच शक्ति के ह्रास के कारण मूत्र वस्ति में एकत्रित तो होता है। परन्तु बाहर नहीं निकलता है। इस अवस्था में वस्ति फूली हुई, उदर (वस्ति प्रदेश) उठा हुआ, वस्ति प्रदेश तथा कटि में वेदना—ये लक्षण होते हैं। गवीनियों में अश्मरी के अटक जाने से मूत्र वृक्कों से वस्ति में नहीं जा पाता। परिणामत: वस्ति फूली हुई नहीं मिलती है। गवीनियों में अश्मरी के अटक जाने से मूत्र का वहाँ दवाव बढ़ जाता है जिससे शूल होता है। अन्त में वृक्कों पर भी दवाव पड़ता है और वे ठीक प्रकार से कार्य नहीं करते हैं। मूत्र मार्ग में अवरोध अश्मरी से आघात से तथा विभिन्न रोगों से उत्पन्न मूत्र मार्ग के शोथ से तथा पौरुष ग्रन्थि की वृद्धि से दवाव पड़ने पर होता है। इसमें वस्ति

फूली हुई, वस्ति प्रदेश में शूल आदि लक्षण होते हैं। इस प्रकार मूत्राघात कई व्याधियों के लक्षण के रूप में उपस्थित रहता है।

मूत्राघात— { वृक्क की विकृति से—वृक्क शोथ
वस्ति की विकृति से—वस्ति शैथिल्य
गवीनियों तथा मूत्र-मार्ग में अवरोध होने से—अश्मरी शोथ, पौरुष ग्रन्थि का दबाव आदि।

उन रोगों के अन्य लक्षणों के आधार पर निदान कर उन रोगों की चिकित्सा से मूत्राघात ठीक हो जाता है। यदि वस्ति में मूत्र अधिक एकत्रित हो गया हो और वेदना हो रही हो तो सर्वप्रथम मूत्र शलाका की सहायता से मूत्र को निकाल लेना चाहिये।

सरक्त मूत्रता

यह भी एक गम्भीर लक्षण है जो कई अवस्थाओं में मिलता है।

(१) *आघात से*—किसी भी कारण से मूत्रवह स्रोतों पर आघात लगने से मूत्र में रक्त की प्रवृति हो सकती है। चरक ने शुक्रज मूत्रकृच्छ्र में आघात से सरक्त मूत्रता स्पष्ट बतलाई है (च० चि० २६।४२, ४३)। साथ ही उरःक्षत में सरक्त मूत्रता का लक्षण मिलता है—ऐसा चरक का मन्तव्य है। यदि आघात उरस एवं उदर पर लगे तो उरःक्षत के साथ साथ मूत्रवह स्रोतों में भी क्षत होकर सरक्त मूत्र प्रवृति मिल सकती है।

(२) अश्मरी से—अश्मरी जब मूत्र मार्ग में क्षत कर देती है तब भी सरक्त मूत्र प्रवृति हो सकती है (च० चि० २६।३८)

(३) *शोफ से*—वृक्क, वस्ति तथा मूत्रमार्ग में शोफ होने से भी मूत्र में खून आ सकता है। सुश्रुत ने अन्तर्विद्रधि के स्थानों में वृक्क और वस्ति को भी गिना है (सु१ सू० ९)। विद्रधि से पूर्व अवस्था शोफ की अवस्था वतलाई गई है। शोफ से सरक्त मूत्रता मिल सकती है। रक्तमेह में भी मूत्र में रक्त आता है। रक्तमेह पैत्तिक होता है। पित्त रक्त को दुष्ट करके अपने उष्ण एवं तीक्ष्ण गुण से रक्तवाहिनियों की प्रवेश्यता को वढ़ा देता है। परिणामतः मूत्र में रक्त आता है। शोफ के दूष्यों में रक्त और दोषों में पित्त का भी परिगणन किया गया है, अतः पूर्वोक्त प्रक्रिया से मूत्रवह स्रोतस के शोफ से भी सरक्त मूत्रता हो सकती है।

इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि यदि वृक्क या गवीनियों से रक्त निकल रहा हो तो प्रथम कुछ मूत्र स्वच्छ आता है और पश्चात सरक्त आता है। यदि मूत्रमार्ग से रक्त आ रहा हो तो प्रथम सरक्त मूत्र और पश्चात् कुछ स्वच्छ मूत्र आता है।

(४) *रक्त की पित्त द्वारा दुष्टि*—रक्त पित्त में, पित्त प्रधान ज्वर में जिसमें रक्त दूष्य हो तथा रक्त एवं रक्तवाहिनियों की कई अन्य विकृतियों में सरक्त मूत्रता मिल सकती है।

वस्ति शोथ

जिन अवयवों में अन्तर्विद्रधि का होना वतलाया गया है, उनमें वस्ति का भी परिगणन किया गया है। अन्तर्विद्रिधि से पूर्व की अवस्था शोथ की वतलाई गई है। इस व्याधि में शोथ तथा पश्चात् पूय निर्माण आदि विकृतियाँ होती है।

निदान—मूत्रवह स्रोतोदुष्टिकर निदान एवं कीटाणु संक्रमण ।

सम्प्राप्ति—प्रकुपित वात, पित्त और कफ वस्ति में पहुँचकर वहाँ पर शाथ उत्पन्न करते हैं ।

(i) *दोष*—त्रिदोष (ii) *दूष्य*—मूत्र, रक्त, रस
(iii) *स्रोतस*—मूत्रवह स्रोतस (iv) *अवयव*—वस्ति
(v) स्रोतोदुष्टि लक्षण—संग (vi) आशुकारी
(vii) पक्वाशयोत्थ व्याधि है ।

लक्षण—

(१) मूत्र कृच्छ्रता (२) मूत्र में पूय निकलता है जिसका स्पष्ट ज्ञान सूक्ष्म दर्शक यंत्र से कर लेना चाहिए (३) ज्वर (४) अग्निमांद्य तथा अरुचि (५) हृल्लास (६) सरक्त मूत्रता (७) वृक्कशोथ की तरह इसमें शरीर पर शोथ (८) मानसिक अवसाद

उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर वस्ति शोथ का निदान किया जा सकता है ।

उपद्रव—

१—वृक्कशोथ २—मूत्रमार्ग शोथ
३—पौरुष ग्रन्थि का शोथ ४—शुक्र प्रणाली का शोथ

चिकित्सा—

१—संशामक प्रभाव डालने वाली औषधियों का प्रयोग करना चाहिये ।

२—गोक्षुरादि गुग्गुलु, गोक्षुरादिक्वाथ, वरुणादिक्वाथ, चन्द्रप्रभा-वटी, शिलाजतु—इनका प्रयोग यथावश्यक किया जा सकता है।

३—रोगी को दीपन पाचन औषधि देनी चाहिए।

४—विवंध नहीं होने देना चाहिये।

(१) चन्दन चूर्ण १ माशा चन्द्रप्रभा २ गोली चन्द्रामृत रस ४ रत्ती दिन में तीन बार गोक्षुरादि क्वाथ से।

(२) सूतशेखर ४ रत्ती शु० गुग्गुलु २ मा० नित्यानन्द रस ४ रत्ती दिन में ३ बार वरुणादि क्वाथ से। क्वाथ की मात्रा २ तोला प्रतिवार रखनी चाहिए।

३०.

वृक्कशोथ

निदान—मूत्रवह स्रोतोदुष्टिकर आहार विहार ।

सम्प्राप्ति—प्रकुपित वात, पित्त और कफ वृक्क में पहुँचकर वहाँ पर शोथ उत्पन्न कर देते हैं ।

(i) *दोष*—त्रिदोष (ii) *दूष्य*—मूत्र, रक्त
(iii) *स्रोतस*—मूत्रवह स्रोतस (iv) *अवयव*—वृक्क
(v) *स्रोतोदुष्टि*—संग और विमार्गगमन (vi) आशुकारी
(vii) आमपक्वाशयोत्थ व्याधि है ।

लक्षण—

(१) *शोथ*—प्रथम चेहरे पर विशेषत: नेत्र गोलक के चारों ओर, पश्चात् पैरों पर और अन्त में समस्त शरीर में फैल जाता है ।

(२) *ज्वर*—प्राय: मृदु होता है, परन्तु कभी-कभी अधिक (१०२* तक) भी हो जाता है ।

(३) *अल्प एवं आविलमूत्रता*—मूत्र वहुत कम आता है । कभी कभी मूत्र विल्कुल ही नहीं आता है । मूत्र गंदला, रक्त या कृष्णाभ होता है ।

(४) *हृल्लास, वमन, उदरशूल, पृष्ठशूल तथा शिर:शूल*—ये पूर्वरूप तथा रूप के रूप में उपस्थित रहते हैं ।

उपद्रव—

(१) मूत्र निर्माण न होने के कारण रक्तवाहिनियों के अन्दर दबाव बढ़ता है और इससे हृदय अपना कार्य करना बन्द कर देता है। कभी कभी फुफ्फुसों में भी विकृति के लक्षण मिलते हैं।

(२) मस्तिष्कगत रक्तवाहनियों में दबाव बढ़ने पर या मस्तिष्क में रक्तस्राव होने पर आक्षेप, दृष्टिनाश, तीव्र शिरःशूल और वमन हो सकते हैं।

(३) मूत्र का निर्माण कम होता है या बिल्कुल नहीं होता है।

रोग निश्चिति—शोथ, परिवृद्ध रक्तचाप, सरक्तमूत्रता तथा मूत्र की मात्रा अत्यल्प तथा मूत्र की आविलता (Albumin presence) से वृक्कशोथ का निश्चित निदान किया जा सकता है। वस्ति शोथ के लक्षण कभी-कभी वृक्कशोथ का संदेह उत्पन्न कर देते हैं। परन्तु साधारणतः वस्तिशोथ में शरीर पर शोथ नहीं होता जबकि वृक्कशोथ में शरीर पर शोथ होना (विशेषतः नेत्रगोलक पर) एक आवश्यक लक्षण है।

चिकित्सा—

१–रोगी को पूर्ण विश्राम देना चाहिए।

२–त्रिदोषशामक चिकित्सा की जानी चाहिए।

३–मूत्रल औषधियों का सावधानी से प्रयोग करें। पारद के मूत्रल योग न दें।

४–अल्प, मृदु एवं मधुर प्राय आहार लेना चाहिए ।

५–नमक का उपयोग नहीं करना चाहिए ।

६–रोगी के मूत्र की परीक्षा करते रहना चाहिए । जब रोगी का मूत्र साफ और स्वच्छ उतरे तब स्वास्थ्य लाभ समझना चाहिए ।

७–चन्द्रप्रभावटी को गोमूत्र, बड़ी इलायची या गोक्षुरु चूर्ण के साथ देना चाहिए ।

८–शंखभस्म, शृङ्गभस्म, प्रवाल भस्म एवं अन्य संशामक प्रभाव डालने वाली औषधियों का प्रयोग करना चाहिए ।

(१) चन्द्रप्रभा २ गोलो ३ वार पुनर्नवाष्टक क्वाथ से ।

रात्रि में–अभया पिप्पली २ माशा प्रतिदिन एक वार दूध से ।

३१.

अश्मरी

स्व निदान से प्रकुपित तीनों दोष मूत्र को सुखाकर अश्मरी को उत्पन्न करते हैं। कफ वस्ति में जाता है और तत्रस्थ मूत्र के साथ मिलता है। इस कफ और मूत्र के पार्थिवांश वायु और पित्त के द्वारा रूक्ष एवं उष्ण गुण से द्रवांश के शोषण होने पर अश्मरी के रूप में जम जाते हैं। वातज अश्मरी को कदम्ब पुष्प के समान आकृति वाला बतलाया गया है और वह कण्टकयुक्त एवं त्रिपुटी होता है (Mulberry stone या Oxalate stone) पित्त से उत्पन्न अश्मरी प्रस्तर के समान तथा चिकनी होती हैं (Uric acid Calculus) कफ से और शुक्र से मृदु अश्मरी बनती है। कफज अश्मरी को आजकल Phosphatic stone कह सकते हैं।

अश्मरी वृक्क एवं वस्ति में बनती है। आयुर्वेद में वृक्काश्मरीका स्पष्ट वर्णन कहीं नहीं मिलता है। लेकिन वृक्काश्मरी का होना सत्य सिद्धान्त है। वृक्क से अश्मरी जब गवीनियों में फँस जाती है तब भयंकर शूल होता है तथा अश्मरीज मूत्रकृच्छ्र के लक्षण मिलते हैं। इन दोनों ही अवस्थाओं में ज्वर, प्रस्वेद, नाड़ी की द्रुतगति तथा वमन ये लक्षण मिलते हैं। रोगी सहसा शूल होने का इतिहास बतलाता है। शूल वस्ति प्रदेश तथा कटि में होता है। वातज अश्मरी कण्टकयुक्त होने के कारण अधिक कष्टदायक होती है। अश्मरी से सरक्त मूत्रता, मूत्राघात एवं मूत्रकृच्छ्र हो सकते हैं।

निदान—

१. संशोधन न करना   २. कुपथ्य से रहना

सम्प्राप्ति—

निदान से प्रकुपित वात वस्तिगत कफयुक्त मूत्र को सुखाकर अश्मरी को उत्पन्न करता है।

(i) दोष—त्रिदोष   (ii) दूष्य—मूत्र
(iii) स्रोतस—मूत्रवह स्रोतस   (iv) स्रोतोदुष्टि—संग—अश्मरी से।

भेद—

१. वातिक २. पैत्तिक ३. कफज ४. शुक्रज

पूर्व रूप—

१. वस्तिस्थान में पीड़ा   २. कष्ट से मूत्रत्याग
३. वस्ति, शिर, वृषण और शिश्न में वेदना
४. मूत्रकृच्छ्र के कारण ज्वर और अरुचि   ५. दुर्बलता
६. मूत्र गंदला आता है।

सामान्य लक्षण—

१. नाभि, वस्ति, सीवनी तथा शिश्न में वेदना।
२. मूत्र की धारा टेढ़ी तथा बीच में रुक जाती है।
३. सरक्त मूत्रता।   ४. मूत्र में सिकता निकलती है।

लक्षण—

वातिक	पैत्तिक	कफज	शुक्रज
१. मूत्राघात	१. मूत्राघात या मूत्रकृच्छ्र,	१. मूत्राघात या मूत्रकृच्छ्र,	१. मूत्र—कृच्छ्र,
२. वस्ति प्रदेश में तीव्र शूल	२. वस्ति प्रदेश में दाह	२. वस्ति भारी और ठण्डी	२. वस्ति पीड़ा
३. मूत्र यदि निकले तो कम और कष्ट के साथ		३. शूल	३. वृषण-शोथ
			४. दबाने पर शुक्राश्मरी विलीन हो सकती है

चिकित्सा—

१. अश्मरी साधारणतः त्रिदोषज होती है, अतः तीनों दोषों की शामक एवं शोधक चिकित्सा करनी चाहिए।

२. अश्मरी भेदनार्थ पाषाणभेदादि चूर्ण का प्रयोग करें।

३. गोक्षुर की जड़, इक्षुरस, एरण्ड की जड़, छोटी कटेरी तथा बड़ी कटेरी की जड़—इन सब को पीसकर दही के साथ मिलाकर खाना चाहिए।

४. अश्मरी बड़ी हो गई हो तो शल्यकर्म करके निकालना चाहिये।

५. शिलाजतु, चन्द्र प्रभावटी, शिलावदर चूर्ण, पाषाण भेद चूर्ण—इनका प्रयोग करना चाहिए।

३२.

ज्वर

सभी रोगों में प्रसिद्ध रोग ज्वर है। यह एक स्वतन्त्र रोग भी है और कई रोगों में लक्षण के रूप में भी मिलता है। ऐतिहासिक या पौराणिक कथा के आधार पर ज्वर की उत्पत्ति शंकर के क्रोध से बताई गई है। क्रोध पित्त से होता है, अत: ज्वर पित्त-प्रधान होता है। विभिन्न प्रकार के मिथ्या आहार—विहार से ज्वर की उत्पत्ति बतलाई गई है।

ज्वर के भेद—

१. दोषों के आधार पर ज्वर आठ प्रकार का होता है—वातज- पितज- कफज- वातपित्तज- वातकफज- पित्तकफज- सान्निपातिक- आगन्तुक ।

२. अधिष्ठान भेद से ज्वर दो प्रकार का होता है—शारीरिक- मानसिक ।

३. वेग के अनुसार ज्वर दो प्रकार का होता है—वहिर्वेग- अन्तर्वेग ।

४. दूष्यों के अनुसार ज्वर सात प्रकार का होता है—रसज- रक्तज-मांसज-मेदज-अस्थिज-मज्जाज-शुक्रज ।

५. चिकित्सा परिणाम के अनुसार ज्वर दो प्रकार का होता है—साध्य और असाध्य ।

६. विषम ज्वर पांच प्रकार का होता है—सन्तत-सतत-अन्येद्युष्क-तृतीयक-चतुर्थक ।

७. *विशिष्ट कारण* के आधार पर—कामज ज्वर–शोकज ज्वर–विषज ज्वर–क्रोधज ज्वर–भूताविष्ट ज्वर।

८. *आम के अनुसार* तीन भेद—सामज्वर–पच्यमान ज्वर–निराम ज्वर।

ज्वर के सामान्य पूर्वरूप—

आलस्य, श्रम, वैरस्य, अश्रुपूर्ण नेत्र, जम्भाई, गुरुता, क्लम, अंगमर्द, रोमहर्ष, अरुचि, तमः प्रवेश, दौर्बल्य।

विशिष्ट पूर्वरूप—पूर्वोक्त पूर्वरूपों के साथ जृम्भा का अधिक होना वातज ज्वर का, आंखों में दाह होना पैत्तिक ज्वर का तथा अन्न में रुचि न होना कफज ज्वर का विशिष्ट पूर्वरूप है।

ज्वर के सामान्य लक्षण—

संताप, अरुचि, तृष्णा, अंगमर्द, हृदय में व्यथा।

अन्तर्वेग ज्वर के लक्षण—

अन्तर्दाह, तृष्णा अधिक, प्रलाप, श्वास, संधिशूल, दोषों का का न निकलना, मलों का न निकलना।

बहिर्वेग ज्वर के लक्षण—

वाह्य ताप अधिक, तृष्णा, प्रलाप, श्वास। इसमें मल आता है और स्वेद भी आता है। अन्तर्वेग की अपेक्षा यह सुखसाध्य है।

अन्य भेदों के लक्षणों को दोषानुसार समझ लें।

ज्वर की सामान्य सम्प्राप्ति—

१. मिथ्या आहार विहार से दोषों का प्रकोप ।

२. अग्निमांद्य और आम की उत्पत्ति ।

३. आम से संग ।

४. ऊष्मा का शरीर में फैलना और आमाशय में ऊष्मा की कमी से अपचन—अग्निमांद्य ।

५. आम के कारण अवरोध होने से शरीर में ऊष्मा अधिक और आमाशय में ऊष्मा कम ।

६. ज्वर में पित्त प्रधान दोष है, रस प्रधान दूष्य है ।
ज्वर आमाशयोत्थ व्याधि है ।

आमज्वर के लक्षण

ज्वर बराबर रहता है, मुखवैरस्य, हृल्लास, अरुचि, तन्द्रा, मल नहीं उतरता या बहुत कम, साम मल आता है, मूत्र अधिक आता है, क्षुधानाश, गुरु-गात्रता ।

पच्यमान ज्वर के लक्षण

ज्वर का वेग अधिक, तृष्णा, प्रलाप, श्वास, भ्रम, मलप्रवृत्ति होती है, हृल्लास ।

निराम ज्वर के लक्षण

ज्वर कम हो जाता है, भूख लगती है, शरीर में लघुता लगती है, मल मूत्र की ठीक प्रवृत्ति होती है, ८ दिन बाद ज्वर निराम हो जाता है ।

संतत ज्वर

सभी विषम ज्वर प्रात: सान्निपातिक होते हैं। संतन ज्वर भी सान्निपातिक होता है। इम ज्वर में भी ग्राम-स्रोतोरोध प्रधान घटनायें होती हैं, इस ज्वर में रस प्रधान रूप से दुष्ट होता हैं, ज्वर लगातार रहता है। यह ज्वर ९- ० या १२ दिनों में उतर जाना है। यह दिनों का क्रम दोष तथा धातुग्रों के निगम होने पर निर्भर करता है। ज्वर के सभी सामान्य लक्षण मिलते हैं। यह ज्वर कष्टसाध्य होता है।

सतत ज्वर

इसमें प्रधान दुष्टि रक्त की होती है, ज्वर कुछ कम ग्रौर पुन: तेज हो जाता है, दिन तथा रात्रि में दोषानुमार ग्रनुकूल समय पाकर ज्वर एक बार चढ़ता है पुन: कम हो जाता है। २४ घंटों में ज्वर दो बार चढ़ता है।

ग्रन्येद्युष्क ज्वर

इसमें विशेष दुष्टि मांस की होती हैं, २४ घण्टों में ज्वर एक बार ही चढ़ता है।

तृतीयक ज्वर

इसमें दो दुष्टि होती है, यह ज्वर हर तीसरे दिन ग्राता है, ग्रर्थात् एक दिन छोड़कर ग्राता है।

चतुर्थक ज्वर

इसमें ग्रस्थि एवं मज्जा की दुष्टि होती है, ज्वर हर चौथे दिन ग्रर्थात् ३ दिन छोड़कर ग्राता है, चतुर्थक ज्वर का एक भेद

चतुर्थक विपर्यय बताया गया है। इसके अर्थ में कुछ लोग दो दिन छोड़कर बुखार आना कहते हैं; कुछ लोग दो दिन बुखार रहना पुनः दो दिन बुखार न आना मानते हैं।

सान्निपातिक ज्वर के लक्षण

कभी गर्मी कभी ठण्ड लगना, अस्थिसंधिशूल, नेत्रों मे पानी आना, कानों में आवाजें, तन्द्रा, मोह, प्रलाप, श्वास, अरुचि, भ्रम, जिह्वाकर्कश, मलों का कम मात्रा में तथा देर से निकलना, कण्ठ-कूजन, उदर गौरव, तृष्णा।

ज्वर चिकित्सा

१. ज्वर में 'आम' प्रधान घटना है जिससे स्रोतों में अवरोध होता है। अतः लंघन कराना चाहिये जिससे अधिक आम न बने और शरीरस्था आम पच जाय। परन्तु श्रमज, क्षयज, क्रोधज, कामज, शोकज और क्षतज ज्वरों में लंघन नहीं कराना चाहिये, क्योंकि इनमें वातप्रकोप होने का भय रहता है।

२. आम पाचनार्थ औषधियों का भी प्रयोग किया जाता है।

३. लंघन, स्वेदन, काल (६ या १० दिन) यवागू और तिक्तरस इन सबसे दोषों का पाचन होता है और 'आम' मिट जाता है।

४. आम को निकालने के लिए वमन और पित्त को निकालने के लिए विरेचन कराना चाहिये।

५. षडंगपानीय पिलाना चाहिये। इसमें मोथा, पित्तपापड़ा, खस, चन्दन, गंधवाला तथा शुण्ठी का प्रयोग होता है। शुण्ठी

आमपाचक है और शेष सभी शीतल द्रव्य हैं। जब रोगी को अधिक प्यास लगे तब इसका प्रयोग लाभदायक है।

६. वमन और विरेचन के बाद यवागुओं का प्रयोग करनाचाहिये।

७. नवज्वर में कषाय रस का प्रयोग निषिद्ध है क्योंकि वह दोषों का स्तम्भन कर देता है जिससे दोष बाहर नहीं निकल पाते। कषाय कल्पना का निषेध नहीं है, कषाय रस का निषेध है।

८. नवज्वर ७ या १० दिन बाद जीर्ण होने लगता है और २१ दिन बाद जीर्ण कहलाता है। जीर्ण ज्वरों में घृतपान ठीक रहता है।

९. दाह नाशार्थ सहस्रधौत घृत तथा चन्दनादि तैल लगाना चाहिये।

१०. कामज, शोकज, क्रोधज आदि विशिष्ट कारण वाले ज्वरों में कारण को हटाना ही महत्वपूर्ण चिकित्सा होती है।

११. गुडूच्यादि क्वाथ, पंचतिक्त कषाय, सुदर्शन चूर्ण, लक्ष्मी विलास रस आदि योग देने चाहिये। गोदंती मिश्रण से ज्वर नीचे उतर जाता है।

१२. वत्सनाभ तथा मल्ल के योग ज्वर में, विशेषतः विषमज्वरों में, बहुत प्रचलित हैं, यथा-मृत्युञ्जय रस, त्रिभुवन कीर्ति, मल्लसिन्दूर, विषमज्वरघ्न वटी।

पथ्य—गोदुग्ध, जीर्ण शालि, मूंग, द्राक्षा, दाड़िम, पूर्ण विश्राम। अपथ्य—गुरु-असात्म्य-विदाहि अन्न, व्यायाम, स्नान तथा घूमना।

३३.

राजयक्ष्मा

ऐतिहासिक वृत्त

दक्ष प्रजापति की २८ कन्याय थीं। अश्विनी, भरणी, कृत्तिका रोहिणी आदि जो २८ नक्षत्र माने गये हैं, उन्हें दक्ष प्रजापति की कन्यायें माना गया है। चन्द्रमा ने प्रजापति की इन सभी कन्याओं से विवाह किया था, परन्तु वह रोहिणी में ही अधिक आसक्त रहता था। जब और कन्याओं ने इस पक्षपात की बात अपने पिता से कही तब दक्ष प्रजापति ने चन्द्रमा को शाप दिया और उसे राजयक्ष्मा रोग हो गया जिससे उसका शरीर दिन प्रति दिन कृश होता गया। पश्चात् चन्द्रमा ने अपने ससुर से क्षमा मांगी और अश्विनी कुमारों से चिकित्सा करवाई। अश्विनी कुमारों ने ओजोवर्धक औषधियाँ देकर चन्द्रमा का रोग दूर किया।

इस पौराणिक कथा से तीन बातें सामने आती हैं—

(१) अधिक कामासक्त रहने से राजयक्ष्मा होता है,

(२) मानसिक कारणों (शाप) से भी राजयक्ष्मा होता है

(३) इसमें ओज का क्षय प्रधान घटना है।

क्योंकि यह रोग प्रथम नक्षत्र-राज चन्द्रमा को हुआ, अतः इसे राज-यक्ष्मा कहा गया। यक्ष्मा का अर्थ रोग होता है।

निदान

राज यक्ष्मा के चार प्रकार के कारण बतलाये गये हैं—साहस, वेग धारण, क्षय, विषमाशन। इन चारों से चार प्रकार का

राजयक्ष्मा उत्पन्न होता है, यथा-साहसज, वेगधारणज, क्षयज, विषमाशनज राजयक्ष्मा। जिन रोगों में कोई विशिष्ट निदान होता है और उससे विशिष्ट सम्प्राप्ति बनकर रोग उत्पन्न होता है। उस निदान को रोगों के भेद में स्थान मिलता है, यथा—वातिक, पैत्तिक आदि के अतिरिक्त कृमिज हृद्रोग में कृमि विशिष्ट निदान है और वह विशिष्ट सम्प्राप्ति से हृद्रोग को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार मृत्तिका भक्षण जन्य पाण्डु, द्विष्टार्थ संयोग छर्दि, क्षयज एवं क्षतज कास में समझना चाहिए। राजयक्ष्मा में पूर्वोक्त चार प्रकार के कारणों से विशिष्ट सम्प्राप्ति बनकर रोग होता है, अत: राजयक्ष्मा को वातिक, पैत्तिक आदि भेदो से न कहकर साहसज, वेगधारणज आदि भेदों से कहा है।

साहसजयक्ष्मा के निदान—

युद्ध, भार उठाना, मार्गचलना, कूदना, तैरना, गिरपड़ना या और कोई आघात, ये सब तभी कारणभूत होते हैं जब ये अपनी शक्ति से अधिक (अयथाबलमारम्भ) हों। इन सब कारणों से फुफ्फुसों में क्षत हो जाता है। इस प्रकार के यक्ष्मा में ११ लक्षण होते हैं जो आगे लिखे जायेंगे।

वेगधारणज यक्ष्मा के निदान—

लज्जावश, घृणावश या भय वश, वात, मूत्र तथा पुरीष के आये हुए वेगों को रोकना। इन सबसे कोष्ठ में वात दुष्टि हो जाती हैं। इस प्रकार के यक्ष्मा में भी ११ लक्षण होते है जिन्हें आगे बताया जायेगा।

क्षयज राजयक्ष्मा के निदान—

हर्ष, उत्कण्ठा, भय, त्रास, क्रोध, शोक, अतिमैथुन, उपवास, । इनसे वीर्य तथा ओज का क्षय होता है । इस यक्ष्मा के ११ लक्षण आगे बतलायें गये हैं ।

विषमाशनज यक्ष्मा के निदान—

विविध प्रकार के अन्नपानों का विषम रूप से सेवन करना । इससे पित्त, वात आदि विकृत हो जाते हैं, मार्गावरोध हो जाता है जिससे रक्तादि धातुओं का पोषण नहीं होता है । इसके ११ लक्षण भी आगे बतलाये गये हैं ।

सम्प्राप्ति—

उपर्युक्त चार कारणों में से साहस, वेगधारण तथा क्षय से प्रधानतः वात की विकृति होती है जिसमें पित्त और कफ उत्क्लिष्ट हो जाते हैं । विषमाशन से प्रधानतः अग्निमांद्य तथा आम की उत्पत्ति होती है । वैसे तो राजयक्ष्मा सदा त्रिदोषज रोग है । इसमें सभी धातुओं का क्षय होता है । अतएव प्रायः सभी प्रकार के राजयक्ष्मा में धातुजन्य वात प्रकोप के ही अधिक लक्षण मिलते हैं । क्षयज यक्ष्मा में कारणों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि इसमें प्रथम शुक्र का क्षय होता है, पश्चात् पूर्ववर्ती धातुओं का क्षय होता है । इसे प्रतिलोमक्षय कहते हैं । विषमाशनज यक्ष्मा में अग्निमांद्य से उत्पन्न आम से रसवह स्रोतोरोध हो जाता है और इससे उत्तरोत्तर धातुओं को पोषण न मिलने से उनका क्षय हो जाता है । इसे अनुलोमक्षय कहते हैं ।

दोष—तीनों दोष, दूष्य—सभी धातुयें और ओज,

स्रोतस—सभी स्रोतस. अधिष्ठान—सर्वशरीर; विशेषतः फुफ्फुस,

आमाशयोत्थ तथा पक्वाशयोत्थ व्याधि है, चिरकारी ।

राजयक्ष्मा के भेद—

१. कारणों के आधार पर राजयक्ष्मा चार प्रकार का होता है—साहसज, वेगधारणज, क्षयज, विषमाशनज ।

२. लक्षणों के आधार पर राजयक्ष्मा तीन प्रकार का होता है—त्रिरूप, षट्रूप, एकादश रूप ।

त्रिरूप यक्ष्मा में—अंश—पार्श्वाभिताप, करपाद संताप तथा सार्वाङ्गिक ज्वर होते हैं । यही अवस्था बढ़कर षट्रूपयक्ष्मा में बदल जाती है जिसमें कास, ज्वर, पार्श्वशूल, स्वरभेद, मलभेद तथा अरुचि लक्षण होते हैं । यही अवस्था आगे बढ़कर एकादश रूप यक्ष्मा को उत्पन्न कर देती है जिसमें कास, ज्वर, पार्श्वशूल, स्वर भेद, मलभेद, अरुचि, शिरःशूल, रक्तष्ठीवन, कफष्ठीवन, श्वास तथा अंसाभिताप लक्षण उत्पन्न होते हैं ।

प्रथम अवस्था में अंशपार्श्वाभिताप से प्रतीत होता है कि उस विशिष्ट भाग में कुछ विकृति आजाती है जिससे वहाँ पर अधिक रक्त आजाता है । ज्वर तथा करपाद संताप से ज्ञात होता है कि विकृति जन्य द्रव्य—विशेष समस्त शरीर में घूम रहा है । द्वितीयावस्था में शूल तथा कास होने लगते है ।शूल उस अवयव में अवरोध या नाश का प्रतीक है, पार्श्वशूल से पार्श्व में (फुफ्फुसों में) दोष और दूष्य के स्थान संश्रय होने पर अवरोध होने का पता चलता है । कास तत्रस्थ विकृत द्रव्य (कफ) को निकालने के लिए एक प्राकृतिक क्रिया है । तीसरी अवस्था में उपर्युक्त लक्षण बढ़ जाते

हैं और अवरोध के कारण श्वास उत्पन्न हो जाता है। अवरोध उत्पन्न करने वाला कफ बाहर निकलता है—कफष्ठीवन होता है और अन्त में रक्तष्ठीवन भी होने लगता है जो की फुफ्फुस में सिराओं के फटजाने का संकेत है।

राजयक्ष्मा के लक्षण—

प्रत्यात्म लक्षण—त्रिरूप राजयक्ष्मा के लक्षण ही राजयक्ष्मा के प्रत्यात्म लक्षण या सामान्य लक्षण बतलाये गए हैं—ये हैं; अंशपार्श्वाभिताप, करपाद संताप तथा ज्वर। चार प्रकार के यक्ष्मा के प्रत्येक भेद के ११ लक्षण होते हैं जो कि प्रायः समान हैं।

राजयक्ष्मा

भेद—	साहसज	वेगधारणज	क्षयज	विषमाशनज
लक्षण—१.	शिरःशूल	शिरःशूल	शिरःशूल	शिरःशूल
२.	कास	कास	कास	कास
३.	स्वरभेद	स्वरभेद	स्वरभेद	स्वरभेद
४.	अरुचि	अरुचि	अरुचि	अरुचि
५.	पार्श्वशूल	पार्श्वशूल	पार्श्वशूल	पार्श्वशूल
६.	मलभेद	मलभेद	मलभेद	मलभेद
७.	ज्वर	ज्वर	ज्वर	ज्वर
८.	कंठोध्वंस	प्रतिश्याय	प्रतिश्याय	कफष्ठीवन
९.	जृम्भा	अंगमर्द	अंगमर्द	रक्तष्ठीवन
१०.	उरःशूल	अंसावमर्द	अंसताप	अंसताप
११.	कफयुक्त रक्तष्ठीवन	वमन	श्वास	श्वास

उपर्युक्त लक्षणों में से कफयुक्त रक्तष्ठीवन साहसज यक्ष्मा में, वमन वेगधारणज यक्ष्मा में, श्वास क्षयज यक्ष्मा में और श्वास

तथा रक्तष्ठीवन विषमाशनज यक्ष्मा में विभेदक लक्षण बन सकते हैं।

विभेदक निदान:—

अयथालमारम्भ से या अधिक साहस से शास्त्रों में तीन व्याधियाँ बतलाई गई हैं:—उर:क्षत, साहसज यक्ष्मा तथा क्षतज कास। इन तीनों में विभेद करना चाहिए। निदान के समान होने पर भी तथा तीनों रोगों में उरस में क्षत होने पर भी तथा चिकित्सा में पर्याप्त समानता होने पर भी तीनों को पृथक रोग माना गया है। उर क्षत और साहसज यक्ष्मा के कारण, सम्प्राप्ति तथा लक्षणों में कोई अन्तर नहीं है सिवाय इसके कि उर:क्षत मे सरक्त मूत्रता भी एक लक्षण दिया गया है जो कि साहसज यक्ष्मा में नहीं दिया गया है। यदि आघात औदरीय अवयवों पर भी लगे तो कदाचित् मूत्र में रक्त मिल सकता है। परन्तु व्यवहार म उर:क्षत के रोगियों में सरक्तमूत्रता नहीं मिलती है। विभेदक लक्षणों को इस प्रकार कहा जा सकता है।

साहसज यक्ष्मा	उर क्षत	क्षतज कास
१. चिरकारी	आशुकारी	चिरकारी
२. उर:क्षत का इतिहास कुछ दिन पूर्व का।	उर:क्षत का समीपस्थ इतिहास	उर.क्षत का दूरस्थ इतिहास
३. यक्ष्मा के लक्षण	यक्ष्मा के लक्षण नहीं	कास प्रधान वेदना
४. धातुक्षय से रोगी दुर्बल।	धातुक्षय प्रबल नहीं, अत: रोगी मोटाताजा	रोगी दुर्बल
५. उर:क्षत के बाद की अवस्था	यक्ष्मा तथा कास से पूर्व की अवस्था	उर:क्षत के बाद की अवस्था
६. मूत्र प्राकृत	सरक्त मूत्रता	मूत्र प्राकृत

राजयक्ष्मा की चिकित्सा:—

१. राजयक्ष्मा त्रिदोष रोग है, अतः दोषों के बलाबल को देखकर चिकित्सा करनी चाहिए। राजयक्ष्मा के प्रत्येक लक्षण स्वतन्त्र रोग भी होते हैं, अतः यह रोग कष्ट साध्य है। प्रत्येक उग्र लक्षण को स्वतन्त्र चिकित्सा भी करनी चाहिए।

२. राजयक्ष्मा में धातुक्षय तथा ओजःक्षय होता है अतः बल्य. वृष्य तथा ओजोवर्धक आहार विहार कराना चाहिए तथा ऐसी ही औषधियाँ भो देनी चाहिए।

३. राजयक्ष्मा में रोगी दुर्बल रहता है अतः उसे वमन या विरेचन विशेषतः विरेचन, नहीं कराने चाहिए। फिर भी यदि दोष अधिक हो और रोगी मे कुछ बल हो तो स्नेहन एवं स्वेदन कराने पर मृदु वमन तथा विरेचन करा सकते हैं।

४. राजयक्ष्मा में स्रोतोरोध भी होता है, अतः दीपन पाचन योग देने चाहिए। मद्य को उचित मात्रा में ले सकते हैं, कारण कि मद्य तीक्ष्ण, उष्ण, विपद एवं सूक्ष्म होने के कारण स्रोतसों में पहुँचकर स्रोतोरोध को दूर करता है। परन्तु मद्य के साथ मांस जरूर लेना चाहिए। चरक ने राजयक्ष्मा में कई प्राणियों का मांस खाने का विधान बतलाया है।

५. दीपन पाचन औषधों से युक्त घृत तथा मांसभोजी पशु पक्षियों का मांसरस और मांसरस से साधित घृत पर्याप्त मात्रा में दिया जाना चाहिए।

६. स्वच्छता, प्रसन्न वातावरण, पौष्टिक आहार तथा स्वास्थ्यप्रद आवास एवं जलवायु आवश्यक अंग हैं।

७. तालीसादि चूर्ण, जीवन्त्यादि घृत, बलादिक्षीर, सितोपलादिचूर्ण, शृंगभस्म, प्रवालपिष्टि, नारदीय लक्ष्मी विलास, च्यवन प्राश, रूदन्ती चूर्ण, तथा अन्य पौष्टिक औषधियाँ दी जा सकती हैं।

८. राजयक्ष्मा के लक्षणों की लाक्षणिक चिकित्सा भी करनी चाहिए।

अपथ्य—वृन्ताक, कारबेल्ल, विल्व, राजिका, तैलसिद्ध अन्न, मैथुन, दिवास्वप्न, क्रोध।

पथ्य—शालि, गोधूम, यवान्न, मुद्गयूष, दाड़िम, आमलकी, आम्रफल, दुग्ध, अजाक्षीर, मद्य, अजा या हरिण का मांस या मांसरस, जांगल पशु पक्षियों का मांस।

३४.

हृद्रोग

जिस रोग का नाम अवयव के आधार पर रखा गया है, उसमें अवयव में रचना सम्बन्धी विकृति आती है। हृद्रोग भी अवयव पर आधारित नाम है, अतः स्पष्ट है कि इस रोग में हृदय में रचना सम्बन्धी विकृति आ जाती है। अतएव हृद्रोग की सम्प्राप्ति में 'हृदि बाधां' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'हृदि बाधां' से स्पष्ट हो जाता है कि हृदय में रचना सम्बन्धी ऐसी विकृति आ जाती है कि हृदय के कार्य में संग या अवरोध उत्पन्न हो जाता है। प्रमुख हृद्रोग में हृत्कपाटों में शोथ होने से वे प्राकृत अवस्था में नहीं आ पाते जिससे रस रक्त का सम्यक क्षेपण नहीं हो पाता है। शरीर में जो तीन प्रधान मर्म बताये गये हैं उनमें हृदय भी एक है, अतएव ऐसे आवश्यक मर्म के रोगाक्रान्त होने पर चिकित्सा काठिन्य तथा अचानक मृत्यु का भय बना रहता है। हृदय रसवह तथा प्राणवह स्रोतस का मूल बताया गया है, अतएव हृद्रोग में रसवह और प्राणवह स्रोतसों की दुष्टि तथा रसदुष्टि एवं प्राणदुष्टि के लक्षण मिलते हैं। हृदय ओज का तथा चेतना का स्थान माना जाता है, अतएव हृद्रोग में ओजःक्षय के कुछ लक्षण मिलते हैं तथा कभी-कभी मूर्च्छा भी हो जाती है।

हृद्रोग निदानः—

व्यायाम, तीक्ष्ण तथा अति विरेचन एवं वस्तिकर्म, चिन्ता, भय, त्रास, रोग से उत्पन्न कार्श्य, छर्दि, कर्षण, वेगधारण (ये सब

वात प्रकोपक हैं), आमदोष तथा हृद्रोग उत्पन्न करने वाले शारीरिक एवं मानसिक आघात।

हृदय मन का भी अधिष्ठान है। चिन्ता, विचार आदि करना मन का कार्य बताया गया है। अतएव अधिक चिन्ता या विचार ऐसे ही मनोपघातकर कारणों से हृद्रोग होता है। आमवात में आमदोष प्रधान घटना बतलाई गई है और उसके लक्षणों में हृद्गौरव बताया गया है। यह इस बात का प्रतीक है कि आमवात में हृदय में कुछ विकृति होती है जो छिपी रहती है और अवसर पाने पर हृद्रोग के रूप में मिलती है।

सम्प्राप्तिः—

तीनों दोष प्रकुपित होकर रस धातु को दूपित करके हृदय में पहुँचते हैं और वहां वाधा उत्पन्न करके हृद्रोग उत्पन्न करते हैं।

१. दोष–त्रिदोष, वात प्रधान। २. दूष्य–रस

३. स्रोतस–रसवह स्रोतस ४. अधिष्ठान–हृदय

५. स्रोतोदुष्टि–संग

सामान्य लक्षणः—

हृद्रोग त्रिदोषज व्याधि है। पित्त की दुष्टि से अग्निमांद्य और आम उत्पन्न होता है जिससे अरुचि, मुखवैरस्य, कफोत्क्लेश, छर्दि तथा तृष्णा लक्षण उत्पन्न होते हैं। हृदय प्राणवह स्रोतस का भी मूल बताया गया है, अतः हृद्रोग में श्वास, कास, कफष्ठीवन, उरोवेदना तथा हिक्का लक्षण भी उत्पन्न होते हैं। हृदय चेतना

का स्थान है; इसमें साधक पित्त तथा अवलम्बक कफ रहते हैं, यह पर ओज का स्थान है, यह प्राणवायु को रस-रक्त के माध्यम से समस्त शरीर में पहुँचाता है। हृद्रोग में इनमें विकृति आने पर विवर्णता, मूर्च्छा और प्रमोह लक्षण उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार हृद्रोग में सामान्य लक्षण ये होते हैं—

अरुचि, मुखवैरस्य, कफोत्क्लेश, उरोवेदना, हिक्का, छर्दि, प्यास, श्वास, कास, कफष्ठीवन, विवर्णता, मूर्च्छा तथा प्रमोह।

हृद्रोग में संग प्रधान घटना होती है। हृदय में संग होने पर एक ओर रसक्षय के लक्षण (हृद्द्रवत्व) और दूसरी ओर रस-वृद्धि के लक्षण (मुख तथा पैरों पर शोथ) मिलते हैं। जलोदर के प्रकरण में हमने स्पष्ट किया है कि परतंत्र जलोदर के कारणों में प्राण, अग्नि और अपान की दुष्टि गिनाई गई हैं। इनमें से प्राण दुष्टि से हृद्कार्य विकृति का अर्थ निकलता है। इस प्रकार हृद्कार्य के उपद्रव में जलोदर उत्पन्न हुआ करता है।

हृद्रोग के प्रकार:—

हृद्रोग पाँच प्रकार का होता है—वातिक, पैत्तिक, कफज, सान्निपातिक और कृमिज। कृमि हृद्रोग उत्पन्न कर सकता है और उसमें कृमि की चिकित्सा करनी चाहिए—यह द्योतित करने के लिए कृमिज हृद्रोग एक विशिष्ट भेद वतलाया है।

हृद्-रोग चिकित्सा:—

१. वातिक हृद्रोग में विभिन्न स्नेहों से वायु का शमन करना चाहिए। तदर्थ चरकोक्त पुनर्नवाद्य घृत, हरीतक्यादि घृत, त्र्यूषणाद्य घृत लाभदायक हैं।

२. पैत्तिक हृद्रोग में विरेचन कराकर पित्तशामक औषध देनी चाहिए। एतदर्थ द्राक्षा, खांड और शहद के साथ पित्त शामक द्रव्यों का प्रयोग करें।

३. कफज हृद्रोग में वमन कराकर कफशामक चिकित्सा की जाती है। च्यवनप्राश, ब्राह्मरसायन तथा आमलकी रसायन का भी प्रयोग करना चाहिए।

४. त्रिदोषज में प्रथम लंघन कराकर पश्चात् त्रिदोषघ्न चिकित्सा करनी चाहिए।

५. कृमिज हृद्रोग में विरेचन, लंघन तथा पाचन कराना चाहिए। इसमें सभी कृमि नाशक योग दे सकते हैं।

६. सभी प्रकार के हृदरोगों में अर्जुन, हरिण श्रृंग, सुवर्णभस्म तथा आर्द्रक का प्रयोग करते है।

पथ्य:—शालि अन्न, मुद्गयूप, पटोल तथा कारवेल्ल और जांगल मांस।

अपथ्य:—तैल, अम्ल, तक्र, गुरु एवं कषाय अन्न, श्रम, आतप, क्रोध, व्यवाय, चिन्तन तथा भाषण।

३५.

शोथ

शोफ और शोथ प्रायः समानार्थक शब्द हैं। शोथ में रस एवं रक्त की दुष्टि होती है। आगन्तुक कारणों से उत्पन्न सूजन को अधिकतर शोफ शब्द से कहा जाता है और निजकारणों से उत्पन्न सूजन को शोथ शब्द से कहा जाता है। परन्तु यह कोई शास्त्रीय नियम नहीं है।

निदान:—

शोथ के निदानों को भी दो भागों में बाँटा जा सकता है; निज कारण और आगन्तुक कारण।

निजकारणों में—(१) वमन विरेचनादि के बाद कृश हुए या रोग के बाद कृश हुए या अनशन के बाद कृश हुए व्यक्ति के द्वारा क्षार, अम्ल, तीक्ष्ण, उष्ण, गुरु पदार्थों का तथा दधि, अपक्व अन्न, विरोधी वस्तु एवं दुष्ट भोजन का सेवन किया जाना।

(२) अर्श, अचेष्टा, देहशुद्धि न करना, मर्माभिघात, विषम प्रसूति, वमन विरेचनादि का मिथ्योपचार।

आगन्तुक कारणों में—आघात, कीट आदि का काटना, विषयुक्त भोजन का सेवन, भल्लातक तथा कपिकच्छु के बीजों का सम्पर्क, शस्त्र से क्षत आदि कारण आते हैं।

सम्प्राप्तिः—

उपर्युक्त कारणों से तीन बातें स्पष्ट होती हैं। प्रथमवर्ग के निजकारणों से धातुक्षय का स्पष्ट अनुमान होता है। धातुक्षय से वातवृद्धि और शोथ शास्त्रोक्त है। निजकारणों के द्वितीय वर्ग से स्पष्ट अनुमान होता है कि उनसे रक्त तथा रक्तवह स्रोतस में प्रधान विकृति आती है। आगन्तुक कारणों से स्पष्ट होता है कि वे आघात या विषवर्ग के हैं। इन सब निदानों से शोथ त्रिदोषज सिद्ध होता है परन्तु वात की प्रधानता भी स्पष्ट प्रतीत होती है।

सामान्य लक्षणः—

शोथयुक्त भाग में गुरुता; यह गुरुता घटती बढ़ती रहती है; शोथयुक्त भाग उठा हुवा (उन्नत) रहता है; उस भाग में अधिक ऊष्मा रहती है; सिरायें पतली हो जाती हैं; उस भाग पर लोमहर्ष, उस भाग पर विवर्णता आ जाती है।

शोथ के भेदः—

१. निज और आगन्तुक।

२. वातज, पित्तज, कफज, द्वन्द्वज, सान्निपातिक।

वातिक शोथ के लक्षणः—

१. शोथ घटता बढ़ता रहता है।

२, दवाने पर गड्ढा पड़ता है, परन्तु दबाव हटते ही पुनः उत्सेध हो जाता है।

३. दिन में शोथ अधिक वढ़ता है।

४. त्वचा रूक्ष, परुष, रक्त या किंचित कृष्ण वर्ण की।

पैत्तिक शोथ के लक्षण

मृदु, रक्तपीत वर्ण, भ्रम, ज्वर, तृषा तथा इसमें पाक होता है। प्रायः आघातज शोथ में पैत्तिक लक्षण मिलते हैं।

कफज शोथ के लक्षणः—

१. शोथयुक्त भाग गुरु होता है, स्थिर होता है।

२. दबाने पर वड़ी देर तक गड्ढा पड़ा रहता है।

३. प्रसेक, निद्रा, छर्दि, अग्निमांद्य के लक्षण।

४. शोथ रात्रि में अधिक वढ़ता है।

दो के मिलने पर द्वन्द्वज तथा सभी के कुछ लक्षण मिलने पर सान्निपातिक समझना चाहिए।

शोथ रोग की चिकित्साः—

१. पाचन, स्रोतः शोधन तथा अनुलोमन ये शोथ के चिकित्सा सूत्र हैं।

२. पुनर्नवा, गोमूत्र, हरीतकी, करवीर–ये मुख्य ओषधियाँ हैं जो शोथ में अकेले या योग के रूप में दी जाती हैं।

३. विरेचक तथा मूत्रल ओषधियां देकर शरीर से उदक के संचय को कम करना चाहिए।

४. आगन्तुक कारणों से उत्पन्न शोथ में व्रणोपचार की तरह चिकित्सा करनी चाहिए।

५. निज शोथ में मूत्रल योग देने चाहिये।

६. लवण वर्जित आहार देना चाहिए।

७. गोमूत्र हरीतकी, शिलाजतु रसायन, पुनर्नवाष्टक क्वाथ, गुड़ार्द्रक योग तथा पुनर्नवामण्डूर आदि योग दिये जाते हैं।

३६.

आमवात

इस व्याधि में संधियों में शोथ एवं शूल होता है तथा ज्वर होता है।

निदान—

१. विरुद्ध आहार २. विरुद्ध चेष्टा ३. अव्यायाम या

४. स्निग्ध भोजनोत्तर सहसा व्यायाम

५. मन्दाग्नि उत्पन्न करने वाले कारण

सम्प्राप्ति—

उपर्युक्त निदानों से तीनों दोषों का प्रकोप होता है; अग्नि—मांद्य से आम उत्पन्न होता है जो कि कफ को अति पिच्छिल कर देता है। इस अति पिच्छिल कफ को वायु रसवह स्रोतस में ले जाता है जिससे हृदय पर भी प्रभाव पड़ता है। शरीर की संधियों में वैगुण्य मिलने के कारण ये दोष वहाँ पर स्थान संश्रय कर लेते हैं। कफ अधिक पिच्छिल होने के कारण उन संधियों में चिपक कर अवरोध उत्पन्न कर देता है जिससे शोथ हो जाता है और वायु से शूल होने लगता है।

दोष—त्रिदोषज; विशेषत: कफ–वात प्रधान।

दूष्य—रस स्रोतस—रसवह

अधिष्ठान—अस्थि संधियां । आमाशयोत्थ व्याधि है ।

चिरकारी व्याधि है ।

आमवात सर्व प्रथम शरीर की बड़ी संधियों में प्रारम्भ होता है, जैसे हाथ, पैर, त्रिक्, जानु तथा उरु सधियों में प्रारम्भ होता है । पश्चात् कभी कभी यह छोटी संधियों को भी आक्रान्त कर लेता है ।

लक्षण—

१. एक या कई संधियों में शोथ तथा शूल (यह शूल वृश्चिक दंश के समान बताया गया है)
२. गात्रस्तब्धता, अंगमर्द । ३. अरुचि, अपाक, प्रसेक, छर्दि ।
४. हृद्ग्रह या हृद् गौरव ।
५. ज्वर, विबंध, तृष्णा, उत्साह हानि ।

	आमवात	वातरक्त	संधिवात	क्रोष्टुशीर्षक
१.	प्रायः बड़ी संधियों में	प्रायः छोटी संधियों में	सभी संधियों में समान रूप से	केवल जानु-संधियों में
२.	ज्वर	ज्वर नहीं	ज्वर नहीं	ज्वर नहीं
३.	संधिशोथ एवं रुक्	संधिशोथ एवं रुक्	संधिरुक्	संधिशोथ एवं रुक्
४.	हृद् गौरव	नहीं	नहीं	नहीं
५.	त्रिदोषज; वात कफ प्रधान	त्रिदोषज; वात पित प्रधान	वातदुष्टि	त्रिदोषज; वात, कफ प्रधान
६.	दूष्य-रस	दूष्य-रक्त	दूष्य-रस	दूष्य-रस

क्रोष्टुशीर्षक में शोथ से जानुसंधि गीदड़ के सिर के समान दिखाई देती है ।

विभेदक निदान—

आमवात, वातरक्त, संधिवात, तथा क्रोष्टुशीर्षक में संधियों में शोथ तथा शूल होता है; अतः इनके बीच विभेद पिछले पृष्ठ में चित्र द्वारा स्पष्ट कर दिया गया है ।

चिकित्सा—

१. आमवात में शोधन, पाचन तथा लंघन कराना चाहिए ।

२. गुड़ूची तथा शुण्ठी को मिलाकर क्वाथ बनाकर पिलाने से आम का पाचन होता है ।

३. आमवात में आम को पाचन करने वाली औषधियाँ दी जाती है । लंघन से भी आम पाचन होता है, अतः लंघन करना चाहिए ।

४ शोधनार्थ एरण्ड स्नेह पिलाना चाहिए । दशमूल क्वाथ की वस्ति भी देनी चाहिए ।

५. भल्लातक तथा कारस्कर का यथोचित प्रयोग करना चाहिए । इससे पाचन, स्रोतो शोधन तथा आमवात शामक प्रभाव पड़ता है ।

———

३७.

ऊरुस्तम्भ

इस रोग में रोगी की जंघाओं में भारीपन मालूम पड़ता है और वह चल नहीं सकता।

निदान—अहित आहार विहार, आयास, भय, रात्रिजागरण, दिवास्वप्न, स्नेहो का अधिक प्रयोग, वेगधारण।

सम्प्राप्ति—पूर्वोक्त कारणों से तीन दोष प्रकुपित होते हैं। अग्निमाद्य से आम उत्पन्न होता है। यह आम कफ के साथ मिलकर वायु के द्वारा अधोग सिराओं में जाता है। यही आम कफ, रस तथा मेद को दुष्ट करता है और ऊरुओ में स्थान संश्रय कर लेता है। अधिक व्यायाम, सवारी या खेल कूद आदि सभी आयास कहलाते हैं जो कि ऊरुस्तम्भ का खवैगुण्योत्पादक निदान है। इसी खवै—गुण्य के कारण स्थान संश्रय ऊरुओं में होता है। वहाँ आम तथा कफ से अवरुद्ध वायु अपना गति रूपक कार्य नहीं करपाता, परि—णामतः रोगी चल नहीं पाता।

दोष—कफ प्रधान। *दूष्य*—रस, मेद

स्रोतस—रसवह–मेदोवह। *अधिष्ठान*—ऊरु (जंघा)

स्रोतोदुष्टि—संग।

यहाँ यह स्मरणीय है कि ऊरुस्तम्भ के कोई प्रकार नहीं बताये गये है। चरक ने कफ को तथा सुश्रुत ने वायु को प्रधानता दी है। स्पष्ट है कि साम कफ के द्वारा वायु का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है,

अतः दोनों की दृष्टि है । परन्तु चिकित्सा आवरक (आम तथा कफ) की जाती है ताकि मार्गविरोध दूर हो जाय और वायु अपना गति रूपक कार्य कर सके ।

चिकित्सा—

ऊरुस्तम्भ में ऊरु तथा पाद की गति शून्यता देखकर, तथा सुप्ति, संकोच एवं कम्प देखकर ऊरुस्तम्भ के निदान करने में वात विकार का भ्रम हो जाता है । ऊरुस्तम्भ का निदान पक्का करना चाहिए—इसका आधार आयास—ऊरुगौरव, चलने में कष्ट या असामर्थ्य आदि बातें होती हैं । क्योंकि आमदोष ऊरुओं में जाकर स्थिर हो जाता है अतः पंचकर्म से इसमें कोई लाभ नहीं होता है । स्नेहन से कफ के बढ़ने का भय रहता है । वमन—विरेचन से ऊरुगत दोष बाहर नहीं निकल पाते । अतः ऊरुस्तम्भ में शामक चिकित्सा करनी चाहिये । रूक्ष आहार, लवण वर्जित आहार तथा क्षारों, अरिष्टों एवं पिप्पली का प्रयोग करना चाहिये । आम पाचक कोई भी औषधि दी जा सकती है । आजकल ऊरुस्तम्भ के रोगी प्रायः नहीं मिलते हैं । कारण कि ऊरुस्तम्भोत्पादक खवैगुण्य करने वाले निदानों का बहुत कम सेवन किया जाता है । विभिन्न प्रकार के आयास ही खवैगुण्योत्पादक कारण हैं ।

ऊरुस्तम्भ में जल में तैरना बहुत अच्छा बताया है; यह हेतु-व्याधि विपरीतार्थकारी है ।

त्रिफला गुग्गुलु, भल्लातक, चन्द्रप्रभा आदि योगों का प्रयोग करना चाहिये ।

———

३८.

रक्तपित्त

परिभाषा—शरीर के विभिन्न वाहक स्रोतों से पित्त द्वारा दुष्ट हुए रक्त की प्रवृत्ति को रक्तपित्त कहते हैं। 'रक्तपित्त' नाम देने में हेतु—

संयोगाद् दूषणात्तत् सामान्याद्गन्धवर्णयोः।
रक्तस्य पित्तमाख्यातं रक्तपित्तं मनीषिभिः॥

१. *संयोगात्*—अर्थात इस व्याधि में पित्त से रक्त संयुक्त होता है (रक्त और पित्त का संयोग)।

२. दूषणात्—इस रोग में पित्त के द्वारा रक्त दुष्ट होता है।

३. गंधवर्णयोः सामान्यात्—रक्त और पित्त का गंध और वर्ण समान होने के कारण इस रोग को रक्तपित्त कहते हैं।

निदानः—

१. अधिक व्यायाम, २. आतप सेवन,

३. शोक, ४. अधिक चलना, ५. अति मैथुन,

६. तीक्ष्ण, उष्ण, क्षार, लवण, अम्ल तथा कटु पदार्थों के अधिक सेवन करने से इस रोग की उत्पत्ति होती है।

सम्प्राप्ति—स्व निदान से प्रकुपित पित्त उत्क्लिष्ट होकर रक्त को दुष्ट करता है। रक्त और पित्त की समान योनि होने के कारण रक्त की वृद्धि होती है। साथ ही पित्त की ऊष्मा से मांसादि धातुएँ स्विन्न हो जाती हैं और उन धातुओं का द्रवांश रक्त में मिलकर उसकी वृद्धि करता है। इस प्रकार से स्वप्रमाण से अधिक बढ़ा हुआ रक्त रक्तवाहिनियों से बाहर निकल जाता है, तब रक्तपित्त उत्पन्न होता है।

अग्निमांद्य से आमदुष्टि, मिथ्या आहार विहार से पित्तदुष्टि एवं उभय से रक्तदुष्टि होती है। अब यह रक्तदुष्टि तथा दुष्ट पित्तोष्मा से मांसादि धातुएँ स्विन्न होकर अपना द्रवांश रक्त में मिश्रित कर दोनों रक्तवृद्धि करते हैं। इस रक्त वृद्धि से रक्तवह स्रोतोदुष्टि होकर रक्त का विमार्ग गमन होकर रक्त पित्त उत्पन्न होता है।

१. *दोष*—पित्त प्रधान २ *दूष्य*—रक्त ३. *स्रोतस*—रक्तवह
४. *अवयव*—यकृत् तथा प्लीहा ५. *स्रोतोदुष्टि लक्षण*—विमार्गगमन
६. आमाशयोत्थ ७. आशुकारीव्याधि।

विवेचनः—

स्वस्थावस्था में रक्त शरीर से बाहर नहीं निकलता है। रक्त का शरीर से बाहर निकलना रक्त का विमार्गगमन कहलाता है। इससे रक्त के दूष्य होने का और रक्तवह स्रोतोदुष्टि का अनुमान होता है। रक्तवह स्रोतों के मूल यकृत् और प्लीहा हैं अतः इनमें भी कुछ विकृति आ सकती है। रक्तवह स्रोतों से रक्त के बाहर निकलने के दो प्रधान कारण हो सकते हैं—

१. आघात लगने से रक्तवाहिनियाँ कट जाय और परिणा-मतः रक्त बाहर निकल जाय।

२. किसी भी कारण से रक्तवाहिनियों की भित्ति की प्रवेश्यता के बढ़ जाने पर भी रक्त बाहर निकल सकता है।

रक्तपित्त के निदानों में आघात कोई निदान नहीं है; अतः कोई निज कारण होना चाहिए। पित्त के उष्ण या तीक्ष्ण गुण से रक्तवाहिनियों की प्रवेश्यता बढ़ सकती है या रक्तवाहिनियाँ टूट सकती हैं। रक्त की मात्रा बढ़ जाने पर रक्तवाहिनियों की भित्ति पर दबाव पड़ने से या रक्तवाहिनियों की स्वयं भित्ति में किसी प्रकार की विकृति होने से उनकी प्रवेश्यता बढ़ सकती है या वे टूट सकती हैं और परिणामतः रक्त बाहर निकल सकता है। संक्षेपतः रक्तपित्त में निम्नलिखित विकृतियाँ होती हैं—

पूर्वरूपः—

१. अंग ग्लानि, २. ठण्डे पदार्थों की इच्छा करना,

३. कण्ठ में जलन ४. छर्दि, ५. श्वास में लोहे की गन्ध आना

रक्तपित्त की गतियाँ—

१. ऊर्ध्वगति–मुख, नासिका, नेत्र एवं कर्ण से प्रवृत्ति।

२. अधोगति–गुदा, मेढ़ एवं योनिमार्ग से प्रवृत्ति।

३. उभयगति–दोनों ऊर्ध्व और अधः मार्गों से प्रवृत्ति।

साध्यासाध्यत्वः—

साध्य—१. एकदोषज रक्तपित्त। २. ऊर्ध्वग।

३. बलवान रोगी को हुआ। ४. नवीन एवं अल्पवेग वाला।
५. हेमन्त और शिशिर में उत्पन्न हुआ।

याप्य—१. द्विदोपज रक्तपित्त। २. अधोग रक्तपित्त।

असाध्य—१. त्रिदोषज रक्तपित्त।
२. उभयगति वाला रक्तपित्त।
३. रोमकूपों से प्रवृत्त होने वाला।
४. जो प्रथम ऊर्ध्वग रहा हो और पश्चात् अधोग हो गया हो।
५. जिसमें अतिमात्रा में रक्त प्रवृति हो।
६- जिसमें शवगंधी रक्त आता हो।
७ क्षीण पुरुप जो दुर्वलता, अरुचि आदि उपद्रवों से युक्त हो।
८. रक्त का वर्ण मांस के धोवन के समान हो।
९. दुर्गन्धयुक्त रक्त निकलता हो।
१०. मेद या पूय के समान रक्त निकले।
११. यकृत् खण्ड के समान वर्ण का रक्त निकले।
१२. जो रक्त कृष्ण और नील वर्ण का हो।
१३. जिसमें इन्द्रधनुष के समान विभिन्न वर्ण का रक्त निकले।

विकृति विज्ञान

शुद्ध रक्त को आयुर्वेद में 'जीवरक्त' संज्ञा दी गई है। यह जीवरक्त विल्कुल रक्तवर्ण का होता है और इससे कपड़ों पर किसी प्रकार के धब्बे नहीं पड़ते हैं अर्थात् कपड़ों पर से यह रक्त धोने पर साफ उतर जाता है और अपना धब्बा नहीं छोड़ता है। रक्तपित्त में रक्त पित्त के द्वारा दुष्ट होता है और उस दुष्ट रक्त से कपड़ों

पर धब्बे पड़ते हैं। उस दुष्ट रक्त को यदि आटे के साथ मिलाकर काक या कुत्ते के सामने डालेंगे, तो वे उसे नहीं खायेंगे। जीवरक्त को काक आदि खा लिया करते हैं। आघात लगने पर जो रक्त निकलता है वह जीवरक्त होता है। रक्त पित्त में दुष्ट रक्त निकलता है। धमनीगत तथा सिरागत रक्त जीवरक्त ही है।

रक्त की भौतिक विकृति अर्थात् रस, गंध, वर्ण आदि की विकृति तो वस्तुतः दृष्टिगोचर नहीं होती। सम्भव है कि रासायनिक परीक्षणों से कुछ अन्तर ज्ञात हो सके। रक्त पित्त की आयुर्वेदोक्त सम्प्राप्ति के अध्ययन से पता चलता है कि रक्त पित्त में रक्त की मात्रा बढ़कर वह रक्तवह स्रोतों से बाहर आने लगता है। पित्त का उष्ण गुण रक्तवाहिनियों की प्रवेश्यता को बढ़ा देता है जिससे रक्त उनसे बाहर निकलने लगता है। वातानुबन्ध होने पर रक्तवाहिनियों की संकोच विकास कराने वाली नाड़ियों में भी कुछ विकृति आ जाती है और कफानुबन्ध होने पर रक्त की मात्रा के बढ़ जाने से रक्त पित्त हो जाता है।

रक्त पित्त के उपद्रव

१. दौर्बल्य, २. श्वास, ३. कास, ४. ज्वर,

५. वमन, ६. मद, ७. पाण्डुता ८. दाह,

९. मूर्च्छा, १०. भोजनोत्तर विदाह, ११. अधैर्य, १२. हृत्पीड़ा,

१३. तीव्र प्यास, १४. अतिसार, १५. शिर में गरमी,

१६. दुर्गन्धयुक्त कफष्ठीवन, १७. भोजन में अरुचि, १८. अपचन,

१९. भोजन खाने पर विकृति (भोजन का ठीक न पचना)

रक्तपित्त

भेद—	वातिक	पैत्तिक	कफज	द्वन्द्वज	सान्निपातिक
लक्षण—	रक्त—	रक्त—	रक्त—		
	१. श्याम	कपाय-वर्णका	कफयुक्त	दो दोषों के	तीनों दोषों के
	२. अरुण	काला	गाढ़ा	मिश्रित	मिश्रित
	३. झाग-युक्त	गोमूत्र सदृश	पाण्डुर वर्णका	लक्षण	लक्षण
	४. पतला	मेचक सदृश	स्निग्ध		
	५. रूक्ष	गृहधूम सदृश	चिपचिपा		
	६.	अंजन सदृश			

चिकित्सा

१. वलवान रोगी के रक्तपित्त का प्रथम स्तम्भन नहीं करना चाहिए, अपितु उसे प्रवृत होने देना चाहिए। अन्यथा दुष्ट रक्त के स्तम्भन से गलग्रह, पूतिनस्य, मूर्च्छा, अरुचि, गुल्म, आनाह, कुष्ठ, अर्श, विसर्प, भगन्दर आदि उपद्रव हो जाते हैं।

२. प्राय: आमदोप के कारण ही उत्क्लेश को प्राप्त रक्तपित्त वृद्धि करता है; अतः सर्व प्रथम लंघन कराना चाहिंए।

३. यदि ऊर्ध्वग रक्तपित्त हो और कफ का अनुवन्ध हो और स्निग्ध-उष्ण निदान (कारण) हो, तो सर्व प्रथम लंघन व अपतर्पण कराना चाहिए। यदि अधोग रक्तपित्त हो, वात का अनुवन्ध हो, रूक्ष, उष्ण निदान हो तव संतर्पण या वृंहण चिकित्सा करनी चाहिए।

४. रक्तपित्त के रोगी को प्यास लगनेपर ह्रीवेरादि पानीय, खजूरादि जल या लाजा (धान या चावल की खील जो कि लक्ष्मी पूजन में काम आती है) का तर्पण देना चाहिए। अर्थात् लाजा को गरम पानी में या गरम दूध में डाल कर थोड़ी सी शर्करा मिलाके पिलावें। यह लाजतर्पण रक्तस्तम्भक एवं बलवर्द्धक है।

५. भोजन में शालिधान्य, कोद्रव, श्यामाक और प्रियंगु का प्रयोग करना चाहिए।

६. पेया में चन्दनादि रससिद्ध पेया, किराततिक्तादि रस सिद्ध पेया, धातक्यादि जल साधित पेया आदि का प्रयोग करें।

७. यदि रोगी बलवान हो, तो शोधन करना चाहिए। ऊर्ध्वग रक्तपित्त में विरेचन और अधोग रक्तपित्त में वमन कराना चाहिए।

८. रोगी दुर्बल हो, रक्तक्षय अधिक हो गया हो तब संशमन चिकित्सा करनी चाहिए। तदर्थ आटरूषक (अडूसे) का क्वाथ, वासाघृत, पंचपंचमूल घृत अथवा शतमूल्यादि घृत का प्रयोग करें।

९. स्वर्ण गैरिक, खस, लोध्र, पद्माख, शंखभस्म, कमल, नागकेशर, मोचरस, चन्दन, खदिर, अर्जुन की छाल-इनका विविध प्रकार से प्रयोग कर सकते है।

१०. मूत्रमार्ग से प्रवृत्त रक्तपित्त में शतावरी और गोखरू साधित दूध पिलाना चाहिए।

११. गुदा से प्रवृत्त रक्तपित्त में मोचरस साधित दूध पिलाना चाहिए।

१२. बोलबद्ध पर्पटी, चन्द्रकलारस, वासाघृत, वासावलेह, शतावर्यादि क्वाथ, पद्मकादि तैल इनका यथास्थान प्रयोग करें।

ऊर्ध्वग रक्तपित्त में योग चिकित्सा

लाक्षाचूर्ण १ मा०, प्रवाल भस्म २ रत्ती, सितोपलादि चूर्ण १ मा०

दिन में ३ वार ६ माशे वासावलेह में मिलाके चटावें।

अधोग रक्तपित्त में

मोचरस—१ मा०, कामदुधा रस—२ रत्ती
प्रवाल भस्म २ रत्ती, माक्षिक भस्म १ रत्ती
दिन में ३ वार शतावर्यादि क्वाथ से देवें।

अथवा—तृणकान्तमणि पिष्टी १ रत्ती, शुभ्राभस्म २ रत्ती
अमृता सत्त्व १ रत्ती लाक्षाचूर्ण १ माशा

ऐसी दिन में तीन मात्राएं चावल के धोवन तथा शहद डालके सेवन करावें।

पथ्य—शालि, प्रियंगु, मसूर, मुद्ग, दाड़िम, आमलकी, क्षीर, घृत, नवनीत (मक्खन) और मिश्री तथा मांसरस आदि।

अपथ्य—अधिक उष्ण, विदाही, क्षार, लवण, वेसन और तेल के पदार्थ, बैंगन, पत्रशाक, आलू, दही आदि वर्जित हैं।

३६.

पाण्डु

पाण्डु रोग–में रोगी की त्वचा का वर्ण पाण्डुर हो जाता है। पाण्डु वर्णको केवड़े(केतकी) की धूलिके समान बतलाया गया है। केवड़े का सरा हरा, कुछ पीला और श्वेत होता हैं।—"हरितः पाण्डुर पाण्डुः"। श्वेत और रक्त मिश्रित रंग को भी पाण्डु कहते है। "श्वेतरक्तस्तु पाण्डुरः"

निदान तथा सम्प्राप्ति—व्यायाम, अम्ल एवं लवण रसों का अधिक उपयोग, अति तीक्ष्ण मद्यपान, दिवास्वप्न, मृतिकाभक्षण करने से प्रकुपति हुए दोष रक्त को दूपित कर त्वचा को पाण्डुर वर्ण की कर देते हैं।

पाण्डुरोग में तीनों दोष कुपित होते हैं किन्तु पित्त (पाचक तथा रंजक पित्त) की दुष्टि प्रधान मानी गई है। दूष्यों में रक्त (तथा रस) एवं स्रोतस(रक्तवह तथा रसवह) प्रमुख हैं।

स्रोतोदुष्टि—इस रोग में रस, रक्त एवं पित्तवाहक स्रोतस दूषित होते हैं। अर्थात् प्रथम पित्त दूपित होता है तथा उसके प्रभाव से कफ और वात भी दूषित हो जाते हैं, जिससे अग्निमान्द्य, आम-सञ्चय, रसवाहक स्रोतोऽवरोध की स्थिति क्रमशः उत्पन्न होकर शेष धात्वग्नियों को पित्तांश नहीं मिलता, जिसके परिणाम-स्वरूप में धात्वग्नियाँ क्षीण हो जाती हैं। रसधात्वग्नि की क्षीणता से रक्तका निर्माण अल्प होने लगता है रक्तरञ्जन कार्य भी पूर्ण नहीं होने पाता जिससे पाण्डुरोगकी उत्पत्ति हो जाती है।

विशेष विवेचन—शरीर में रस और रक्त ये दो भ्रमणशील धातुएँ हैं जो समस्त शरीर में विचरण करती रहती हैं। त्वचाका पाण्डुवर्णका होना ही पाण्डुरोगका प्रत्यात्म लक्षण है। रस और रक्त दोनों ही त्वचाके नीचे भी जाते हैं और वहाँ कुछ मात्रा में रहते भी हैं। रस का वर्ण श्वेत तथा पाण्डु बतलाया गया है और रक्त का वर्ण लाल होता है। रस और रक्तका एक प्राकृतिक संतुलन रहता है जो रस या रक्त के जाने या घटजाने से बिगड़ जाता है। साथ ही वर्णका प्रकाशन भ्राजक पित्तका कार्य है और रक्त रञ्जन रञ्जक-पित्त का कार्य है। चरक ने रसज रोगों में पाण्डु को गिना है और चिकित्सा स्थान में पाण्डुरोग का वर्णन करते हुए रक्त को दूष्य बतलाया है।

होता यह है कि निदान से सर्व प्रथम पित्त की दुष्टि होती है और बाद में सभी दोष दुष्ट हो जाते हैं। पित्त दुष्टि से अग्निमांद्य और परिणामस्वरूप आम की उत्पत्ति होती है। अग्निमांद्य होने से धात्वग्नियों को पाचकांश नहीं मिलता, परिणामतः धात्वग्नियाँ क्षीण हो जाती हैं। आम से रसवह स्रोतोरोध हो जाता है जिससे प्रथम तो उत्तरोत्तर धातुओं में पहुँचता ही नहीं और जो कुछ अंश पहुँचता भी है उसका पाक या सात्मीकरण ठीक नहीं हो पाता, कारण कि धात्वग्नियाँ पूर्व ही में क्षीण रहती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि सभी धातुओं का सारभूत ओज क्षीण हो जाता है और ओजःक्षय के लक्षण मिलते हैं। साथ ही रक्त–निर्माण अल्प तथा रञ्जन भी अल्प होता है। रसवह स्रोतों में आम के द्वारा सङ्ग होने के कारण रस एवं रसवह स्रोतों की दुष्टि की कल्पना की गई और रक्त के अल्प निर्माण एवं अल्परञ्जन के कारण रक्त एवं

रक्तवह स्रोतों की दुष्टि का अनुमान किया गया है । यदि सङ्ग रक्त-वह स्रोतसों में हो, तो प्रधानक्षय उत्तरवर्ती धातु मांस का होना चाहिए था, रक्त का नहीं । पाण्डु में प्रधान क्षय रक्त का होता है, मांस का नहीं, अत: अवरोध रसवह स्रोतों में मानना चाहिए और रक्तधात्वग्निका क्षय मानना चाहिए ।

उपर्युक्त विवरण से हम इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि पाण्डुरोग में रक्त का निर्माण और रञ्जनकार्य अल्प होता है । रक्तनिर्माण तथा रक्तरञ्जन के लिए अधोलिखित प्रक्रिया पर ध्यान देना आवश्यक है । रक्त का निर्माण निम्न प्रकार से होता है—

१. भोजन में रक्त पोषक अंश रहता है जोकि पाचनानन्तर आहार रस के साथ शोषित होता है ।

२. यह आहाररस रसधातु बनकर रसवहस्रोतोमूल हृदय से सरक्त मेद में जाता है जहाँ पर रक्तकणों का निर्माण होता है ।

३. रञ्जन का कार्य रञ्जकपित्त का बतलाया गया है । सरक्त मेद में बने रक्तकणों को रञ्जित करना इसका कार्य है ।

रञ्जक पित्त का स्थान—सुश्रुताचार्य ने यकृत् और प्लीहा को रञ्जकपित्त का स्थान माना है ।

वाग्भट—ने आमाशय को रञ्जक पित्त का स्थान माना है ।

इस प्रकार रक्त निर्माण की प्राकृत क्रिया में किसी भी प्रकार की विकृति आने पर व्याधि के रूप में या लक्षण के रूप में या

उपद्रव के रूप में (अनुबंध या अनुबन्ध्य के रूप में) पाण्डु हो सकता है।

रक्त निर्माण न्यूनता हेतु—रक्त निर्माण क्रिया में बाधा आने से रक्त का निर्माण अल्प होता है। इसमें निम्न विकृतियाँ प्रमुख हैं—

(१) भोजन में रक्तपोषकांश की अल्पता या अभाव।

(२) आमाशयस्थ रञ्जक पित्त की न्यूनता।

(३) आन्त्र की विकृति, जिससे आहार रस का शोषण सम्यक् नहीं हो पाता।

(४) यकृत् या प्लीहा की विकृति जिससे रञ्जन का कार्य अल्प होता है।

(५) सरक्तमेद (अण्वस्थियों) की विकृति।

उक्त पाँचों अवस्था-विशेषों को पुनः हम दो प्रधान भागों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) *रक्त का अल्प निर्माण*—यह रक्तधात्वग्निके क्षयका द्योतक है। रक्तधात्वग्नि के क्षय से रक्तनिर्माण नहीं होता है, या विकृत रक्ताणु बनते हैं।

(२) *रक्त का अल्प रञ्जन*—यह रक्त धातु के पोषण के अभाव का तथा रञ्जक पित्त की न्यूनता या अन्य विकृति का द्योतक है।

अब तक किए गए सर्व विवरण से स्पष्ट है कि पाण्डु में पाचकाग्नि के मन्द हो जाने के कारण रक्तधात्वग्नि को भी पित्त

(पाचकांश) पूर्ण नहीं मिलता। परिणामतः रक्तधात्वग्नि क्षीण हो जाती है। रञ्जनाल्पता से रञ्जकपित्त की कमी तथा रसवह स्रोतोरोध के कारण रक्त को पोषण न मिलना ज्ञात होता है।

पूर्वरूप—त्वक् स्फोटन, ष्ठीवन, गात्रसाद, मृद्भक्षण की इच्छा, अक्षिकूट शोथ, मल और मूत्र पीतवर्ण के होना तथा अपचन ये पाण्डु के पूर्वरूप हैं।

पाण्डु भेद—पाण्डुरोग ५ प्रकार का होता है। वातज, पैत्तिक, कफज, सान्निपातिक और मृद्भक्षण जन्य। मृत्तिकाभक्षण से भी दोषों का ही प्रकोप होता है जिससे पाण्डु रोग हो जाता है। कषाय रसवाली मिट्टी वात प्रकोपक, क्षारयुक्त मिट्टी पित्तप्रकोपक और मधुररसवाला मिट्टी कफ को प्रकोपक होती है। सुश्रुत ने मृत्तिका भक्षण जन्य पान्डु को अलग नहीं लिखा है। उसने निदान में मृत्तिका भक्षण भी एक निदान लिखा है। चरकने मृत्तिका—भक्षणजन्य पाण्डु को पृथक् लिखा है, कारण कि इसकी चिकित्सा मे दोषों की चिकित्सा से अधिक महत्त्व निदानपरिवर्जन अर्थात् मिट्टी खाने की आदत को दिया जाता है। चरकने मृत्तिका भक्षणजन्य पाण्डु की सम्प्राप्ति इस प्रकार लिखी है—

मिट्टी का पाचन नहीं होता। अतः खाई हुई मिट्टी अन्नवह स्रोतों में भर जाती है और अवरोध उत्पन्न कर देती है। जिसके परिणामस्वरुप आहार रस का शोषण ठीक न होने से धातुओं की पुष्टि नहीं होती और रोगी के वल, वर्ण, वीर्य तथा ओज का नाश हो जाता है।

असाध्य लक्षण—यदि पाण्डु पुराना हो गया हो, देह अधिक हो गई हो, शरीर पर शोथ हो गया हो, रोगी सभी वस्तुओं को

पीला देखता हो, रोगी हरित वर्ण का तथा कफयुक्त, बद्ध एवं अल्प पुरीषका अतिसरण करता हो, रोगी दीन हो तथा उसकी देह श्वेत एवं मललिप्त हो, छर्दि, मूर्छा तथा तृषा से पीड़ित हो एवं गुदा, मेढ़ तथा अण्डकोषों पर शोथ हो गया हो तथा ज्वर और अतिसार हो गए हों, तो वह पाण्डुरोग असाध्य माना जाता है ।

चिकित्सा

(१) रोगी को सर्व प्रथम स्नेहन कराकर विरेचन से शोधन कराना चाहिए । यद्यपि पाण्डु रोगी को वमन कराना निषिद्ध वतलाया गया है तथापि आम की अधिकता होने पर, प्रबल अवरोध होने पर तथा कफ के अधिक बढ़ने पर चरक ने पाण्डु रोगी के लिये भी वमन कराने का विधान वतलाया है ।

(२) स्नेहनार्थ चरकोक्त निम्न लिखित घृतों का प्रयोग किया जाता है-पंचगव्य घृत, महातिक्त घृत, कल्याण घृत, दाड़िमाद्यघृत, कटुकाद्यघृत, पथ्याघृत, दन्तीघृत, द्राक्षाघृत, हरिद्रादिघृत । इन घृतों की विशेषता यह है कि ये घृत स्नेहन के साथ साथ पित्तशामक भी हैं; क्योंकि किसी न किसी पित्तशामक द्रव्य के साथ इनका सम्वन्ध किया गया है ।

(३) *स्नेहोत्तर विरेचनार्थ*—वातिक पाण्डु में केवल दुग्ध या गोमूत्रयुक्त दुग्ध पिलाना चाहिए या दन्तीफल के कवोष्ण क्वाथ में गम्भोरी फल का चूर्ण १ तोला और मुनक्का की चटनी २ तोले मिलाकर छान लें और उसे रोगी को पिलावें ।

पैत्तिक पाण्डु में—निसोत के चूर्ण में दुगुनी मात्रा में खाँड मिलाकर आधापल की मात्रा में प्रयुक्त करावें ।

कफज पाण्डु में—गोमूत्र में हरड़ को भिगोलें और पश्चात् उसे कूटकर गोमूत्र में आलोड़ितकर उपयुक्त मात्रा में पिलावें।

(४) कोष्ठशुद्धि के पश्चात् संसर्जन कर्म कराना चाहिए। रोगी को पथ्य भोजन कराना चाहिए। अर्थात् यूषों के साथ पुराने शालि चावल, जौ व गेहूँ की रोटी या दलिया का प्रयोग करना चाहिए। मूंग, मसूर और अरहर का यूष बनाकर ले सकते हैं।

(५) मण्डूर वटक, पुनर्नवा-मण्डूर, लोहभस्म, धात्र्यवलेह, त्रिफलाद्यवलेह, बीजकारिष्ट एवं धात्र्यरिष्ट में से किसी का भी प्रयोग किया जा सकता है।

(६) *मृदभक्षणजन्य पाण्डु* में संशोधन चिकित्सा करें। प्रथम मिट्टी खाना बन्द करवाना चाहिए। व्योषादिघृत का पान करावें। गोमूत्र के साथ हरीतकी का प्रयोग श्रेष्ठ है।

(७) नवायस लोह, मण्डूरभस्म, लोहासव, आमलकावलेह, पाण्डुसूदन रस, योगराज रस का भी प्रयोग किया जाता है।

(८) मण्डूरभस्म १-२ रत्ती, नवजीवन रस २ रत्ती, त्रिफला चूर्ण २ माशे, ऐसी तीन मात्राएं दिन में ३ बार आमलकावलेह के साथ देवें।

(९) पाण्डु रोगी में शोथ उत्पन्न होने पर पुनर्नवामण्डूर २-४ रत्ती तीन बार प्रतिदिन देना चाहिए।

पथ्य—गोधूम, यवान्न, मुद्ग, मसूर, जांगलमांस, पूर्णविश्राम।

अपथ्य—पित्ताल अन्नपान, अग्निताप, आतप, मैथुन, क्रोध, अध्वगमन।

४०.

कामला

निदान—पित्तवर्द्धक आहार विहार ।

सम्प्राप्ति—जो पाण्डुरोगी पित्तवर्द्धक आहार वि.ार का अधिक सेवन करता है, उसका पित्त रक्त और मांस को दूषित करके कामला उत्पन्न करता है ।

लक्षणः—

१. रोगी की त्वचा, नाखून और मुख का वर्ण पीला ।
२. रोगी के नेत्र पीत वर्ण के ।
३. कुछ रक्तवर्ण का पुरीष और मूत्र पीतवर्ण का ।
४. त्वचा का वर्ण मेंढक की त्वचा के वर्ण के समान ।
५. इन्द्रियों की शक्ति का ह्रास । ६. दाह ७. अविपाक
८. दौर्बल्य ९. अंग ग्लानि १०. अरुचि

विवेचन—कामला में रोगी की त्वचा का वर्ण पीत हो जाता है । यह पीतवर्ण वहाँ पर पित्त की उपस्थिति के कारण होता है । पित्त रक्त का मल बतलाया गया है । यह पित्त यकृत् से आन्त्रों में जाता रहता है और कुछ भाग पित्ताशय में एकत्रित भी होता है । त्वचा के वर्ण का पीत होना, त्वचा के नीचे पित्त को उपस्थिति का द्योतक है । यह पित्त का विमार्गगमन कहलाता है । पित्त दो प्रधान कारणों से त्वचा के नीचे जा सकता है—

१. यकृत् में किसी प्रकार के अवरोध होने के कारण पित्त आन्त्रों में नहीं जा पाता और परिणामतः वह रक्त के साथ मिल कर त्वचा के नीचे चला जाता है और अपने पीतवर्ण के कारण

त्वचा को भी पीतवर्ण का बना देता है। इस प्रक्रिया से उत्पन्न कामला को शाखाश्रित कामला कहते हैं, पित्त का कार्य मूत्र एवं पुरीष को रंगना भी बतलाया गया है, आन्त्रों में न जा सकने के कारण पित्त मलरंजन नहीं कर पाता और परिणामतः मल का वर्ण श्वेत या तिलपिष्ट के समान हो जाता है। रक्त में घूमता हुआ पित्त मूत्र का अधिक रंजन कर देता है जिससे मूत्र अति पीत-वर्ण का हो जाता है। यह शाखाश्रित कामला अवरोध से उत्पन्न होता है और अवरोध के लिए आम या कफ उत्तरदायी होते हैं। आम की उत्पत्ति अग्निमांद्य से होती है, अग्निमांद्य कफ की वृद्धि से या विमार्गगामी होने के कारण पित्त के आंत्रों में न पहुँचने के कारण भी हो सकता है। ये आम और कफ पंगु होने के कारण अपने प्रधान स्थान आमाशय से अन्यत्र नहीं जा सकते अतः इनको यकृत् में ले जाना वायु का कार्य है। इन सब क्रमिक घटनाओं को शाखाश्रित कामला की सम्प्राप्ति में इस प्रकार से लिखा है।

वातानुगत कफ जब पित्तवाही स्रोतों में अवरोध उत्पन्न करता है तब वह पित्त शाखाओं में जाकर त्वग्मांसाभ्यन्तर अव-स्थिति करके 'कामला' उत्पन्न करता हैं।

२. द्वितीय प्रकार, जिससे पित्त त्वचा के नीचे जा सकता है, यह है कि रक्तकणों के अधिक टूटने से अधिक पित्त बने जो अपेक्षित मात्रा में आन्त्रों में चला जाता है और शेष शाखाओं में जाकर कामला उत्पन्न करता है। इसके लिए किसी भी कारण से रक्त कणों का अधिक टूटना आवश्यक है। पाण्डुरोग में रसका वह अंश जो रक्त के पोषणार्थ प्रयुक्त होता है, विकृत होता है या रसवह स्रोतों में अवरोध होने के कारण रक्त को पर्याप्त पोषण नहीं पाता और परिणामतः रक्त कण दुर्बल हो जाते हैं, ऐसी दशा

में यदि रोगी पित्तावर्धक आहार विहार करे तो उसका पित्त प्रकुपित हो जाता है और वह अपने उष्ण और तीक्ष्ण गुण से रक्तकणों को तोड़ता है जिससे अधिक पित्त बनता है, जिसका कुछ भाग आन्त्रों में चला जाता है और शेष रक्त के साथ मिलकर शाखाओं में जाकर कामला उत्पन्न करता है। इस अवस्था में मल और मूत्र दोनों का वर्ण अतिपीत हो जाता है, 'पाण्डु रोगी तु योत्यर्थं पित्तलानि विपेवते। तस्य पित्तमसृक्मांसं दग्ध्वा रोगाय कल्प्यते ॥' इस श्लोक से उपर्युक्त भाव निकलता है। पाण्डु रोग के वाद ही कामला होता है ऐसी वात नहीं है। कामला स्वतन्त्र भी हो सकता है और पाण्डु के वाद भी। पाण्डु रोग के वाद होने वाला कामला प्राय: कोष्ठाश्रित (या उभयाश्रित) हुआ करता है।

दोनों प्रकार के कामला की सम्प्राप्ति को दृष्टि में रखते हुए उनमें दोष दूष्यादि विमर्श अधोलिखित रूप में होता है—

१. *दोष*—पित्त प्रधान-कोष्ठाश्रित या उभयाश्रित में, वातानुगत कफ-शाखाश्रित में। २. *दूष्य*—रक्त

३. *स्रोतस*—रक्तवह तथा पित्तवह

४. *अवयव*—यकृत् और प्लीहा

५. *स्रोतोदुष्टि लक्षण*—संग और पित्त का विमार्गगमन

६. आमाशयोत्थ ७. चिरकारी

निदान—वात+कफदुष्टि-पित्तवह स्रोतोरोध-पित्त का विमार्गगमन—शाखाश्रित कामला।

निदान—पित्तदुष्टि—रक्तदुष्टि—अधिक पित्तनिर्माण, पित्त का विमार्गगमन—कोष्ठाश्रित तथा उभयाश्रित कामला।

जब कामला अधिक दिन तक रह जाता है तब पित्त मांस धातु को भी दुष्ट कर देता है और *कुम्भ कामला* उत्पन्न हो जाता

है। इसमें रोगी की त्वचा का वर्ण पीत या हारिद्र हो जाता है और मल एवं मूत्र पीत तथा कृष्ण वर्ण के हो जाते हैं। साथ ही समस्त शरीर में शोथ, रक्तयुक्त छर्दि, नेत्र एवं मुख रक्त वर्ण के, दाह, अरुचि, तृषा, आनाह, तन्द्रा, मोह तथा अग्निमांद्य ये लक्षण मिलते हैं। कुम्भ का अर्थ कोष्ठ होता है। अतः कुम्भ कामला प्रधानतः कोष्ठाश्रित कामला होता है। वस्तुतः कोष्ठाश्रित कामला ही अग्रिम अवस्था में कुम्भ कामला में परिवर्तित हो जाता है।

सुश्रुत ने कामला का एक भेद लाघरक (लाघवक) या अलसक बतलाया है जो चरकोक्त हलीमक है। यह वात-पित्त प्रधान होता है। हलीमक को पानकी भी कहते हैं। इसमें त्वचा का वर्ण हरित, पीत या नील हो जाता है और मृदुज्वर, श्वास, भिन्नवर्चस, तृष्णा, शोथ तथा नेत्रों का रक्तिमायुक्त होना ये लक्षण भी उपस्थित रहते हैं। जैसे कोष्ठाश्रित कामला अग्रिम अवस्था में कुम्भ कामला में बदल जाता है, वैसे ही शाखाश्रित कामला के अधिक दिन रहने पर धातुक्षय के कारण वात का प्रकोप हो जाता है और तब वात और पित्त से हलीमक उत्पन्न हो जाता है।
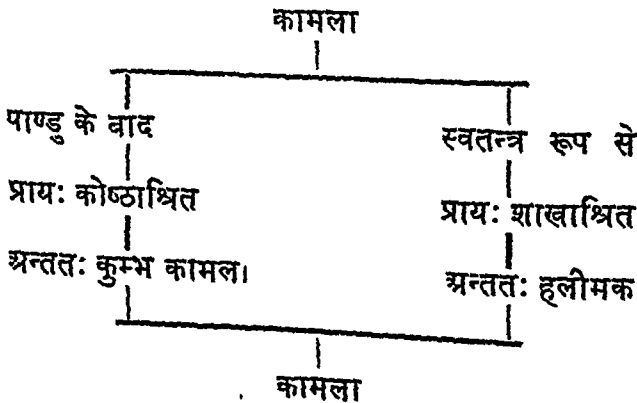
कामला की चिकित्साः—

१. पाण्डुवत् शोधन तथा संसर्जन क्रम करना चाहिए।

२. दन्ती कल्क को ½ पलकी मात्रा में १ पल गुड़ के साथ मिलाकर शीतल जल से पीवें।

३. अमलतासकी मज्जा के साथ त्रिकटु चूर्ण मिलाकर १ पल को मात्रा में ईख के रस या आँवले के रस के साथ देना चाहिए।

४. लोहभस्म, हरड़ तथा हल्दी को समान मात्रा में लेकर मधु और घृत के साथ रोगी को देवें।

५. हरड़ के चूर्ण को गुड़ और मधु के साथ सेवन करें।

६. शाखाश्रित कामला में दीपन पाचन तथा विरेचन से अव-रोध करना चाहिए। विजौरे के रस में पिप्पली, कालीमिर्च, सोंठ का चूर्ण तथा मधु मिलाकर रोगी को पिलाना चाहिए।

७. रुद्धपथ कामला (शाखाश्रित) में इच्छाभेदी रस, सूत-शेखर कल्प तथा गो मूत्र के साथ हरीतकी का सेवन करना चाहिए।

८. शेष चिकित्सा पाण्डुवत करें।

९. हलीमक की चिकित्सा वातज एवं पित्तज पाण्डु के समान करनी चाहिए।

पथ्यापथ्य—पाण्डुरोग के समान।

४१.

कुष्ठ

निदान

१. विरुद्ध अन्नपान ।

२. द्रव, स्निग्ध तथा गुरु पदार्थों का अति सेवन ।

३. वमन तथा अन्य वेगों को रोकना ।

४. व्यायाम तथा अति संताप ।

५. कभी शीतल और कभी उष्ण आहार विहार ।

६. लंघन के वाद विना क्रम के अति भोजन ।

७. धूप, श्रम तथा भय से पीड़ित व्यक्ति का सहसा शीतल जलपान । ८. अजीर्ण और अध्यशन ।

९. पंचकर्म का ठीक न होना ।

१०. नवीन अन्न, दधि, मत्स्य, लवण तथा अम्ल का अति सेवन । ११. माष, मूलक, पिष्टान्न, गुड़, क्षीर, तिल का सेवन ।

१२. भोजन के जीर्ण न होने पर भी मैथुन करना ।

१३. ब्राह्मण एवं गुरु का अपमानकरना तथा अन्य पाप कर्म ।

सम्प्राप्ति—

दोष—त्रिदोष । *दूष्य*—त्वचा, मांस, रक्त, लसीका ।

स्रोतस—रक्तवह स्रोतस । *अधिष्ठान*—त्वचा और मांस ।

चिरकारी—व्याधि है ।

पूर्वोक्त निदानों से प्रकुपित तीनों दोष त्वक्, मांस, रक्त और लसीका को दुष्ट करके कुष्ठ उत्पन्न करते हैं ।

विवेचन—कुष्ठ को रक्तज विकारों मे गिना गया है । इसका अधिष्ठान त्वक् और मांस है । इसमें लसीका की भी दुष्टि होती

है। प्रकुपित वात, पित्त और कफ सर्व प्रथम रक्त को दुष्ट करते हैं और जाकर त्वचा में स्थान संश्रय करते हैं। त्वचा रोमकूपों का अधिष्ठान है जिनसे स्वेद वाहर निकलता है, अतएव कुष्ठ की प्राक् अवस्था में अतिस्वेद या स्वेदाभाव होता है। तत्पश्चात कोठ की उत्पत्ति होती है जो कि प्रथम मुख, नितम्ब, पाद एवं बाहु पर होता है। इन कोठों के पास विवर्णता आ जाती है। लोमहर्ष भी होता है, कभी कभी ये कोठ शान्त हो जाते हैं और पुनः दूसरे कोठ उत्पन्न हो जाते हैं ये कोठ पकते हैं और तब कण्डू, तोद, दाह एवं शूल ये लक्षण होते हैं, पाक की अवस्था में मांस भी दुष्ट हो जाता है।

त्वचा स्पर्शनेन्द्रिय है। अतः त्वचा की अधिक विकृति पर सुप्तता या स्पर्शाज्ञता उत्पन्न हो जाती है। स्पर्शाज्ञता त्वचा की विकृति की अवस्था पर निर्भर करती है अतः हर एक कुष्ठ में यह लक्षण आवश्यक नहीं है।

उदक जब क्षत-त्वक् से बाहर निकलता है तब लसीका कहलाता है। कुष्ठ पीड़ित रोगी की त्वक् में क्षत हो जाता है अतः लसीका का भी दुष्ट होना बतलाया गया है।

पूर्वरूपः—

१. अतिस्वेद या स्वेदाभाव २. कोठों की उत्पत्ति ३. विवर्णता
४. लोमहर्ष ५. कण्डू ६. तोद ७. दाह
८. व्रणका शीघ्र होना और देर तक रहना ९. व्रण में शूल
१०. सुप्ताज्ञता ११. स्पर्शाज्ञत्व १२. श्रम १३. क्लम

भेद—कुष्ठ १८ प्रकार का होता है। ७ महा कुष्ठ और ११ क्षुद्रकुष्ठ।

सात महाकुष्ठ—

१. कापाल २. उदुम्बर ३. मण्डल ४. ऋष्य जिह्व
५. पुण्डरीक ६. सिध्म ७. काकणक

महाकुष्ठ

भेद—	१—कपाल	२—उदुम्बर	३—मण्डल	४—ऋष्यजिह्व
लक्षण—	१—कोठ काले, अरुण वर्ण तथा कपालाभ	कोठ लाल गूलर फलके समान	कोठ श्वेत, रक्त	कोठ का किनारा रक्त वर्णका और अन्दर श्याम वर्ण
	२—रूक्ष, परुष	दाह	स्निग्ध	खुरदरा
	३—तनु	कण्डू	स्थिर	वेदनायुक्त
	४—तोद बहुल	वेदना	उन्नत	ऋष्य जिह्व-सम
	५—विषम	रोम पिंगल वर्ण के हो जाते हैं	मण्डलाकार एवं अन्योन्या-सक्त कोठ	

ष्ठों में दोषों के अनुसार लक्षण—

वातिक लक्षण

१. रूक्षता, खरता
२. शोष
३. तोद, शूल
४. संकोच, हर्ष
५. आयास
६. परुषता
७. श्याम या अरुण वर्ण

भेद

५–पुण्डरीक	६–सिध्म	७–काकणक
कोठ रक्त श्वेत,	श्वेत ताम्र	घुंघची के समान
किनारा लाल	वर्ण का चकत्ता	रक्त वर्ण का कोठ
उन्नत	तनु	तीव्र वेदना
	घिसने से धूल	पकता नहीं है
	सी गिरे	
	अलाबू पुष्प के	तीनों दोषों के
	वर्ण के समान	लक्षण मिलते हैं

पैत्तिक लक्षण	कफज लक्षण
दाह	श्वेतता
रक्तिमा	शीतता, स्निग्धता
परिस्रव	कण्डू
पाक	स्थिरता
क्लेद	उत्सेध
आमगंधी	गौरव
अंग पतन	कृमियों [illegible]ये जाते की [illegible]ीति

एकादश क्षुद्र कुष्ठ—

१. एक कुष्ठ २. चर्म ३. किटिभ
४. विपादिका और विर्चचिका ५. अलसक ६. दद्रु मण्डल
७. चर्म दल ८. पामा ६. कच्छू १०. विस्फोट ११. शतारु

साध्यासाध्यता—

असाध्य—१. जिनमें तीनों दोषों के लक्षण मिलें।

२. जो कुष्ठी दुर्बल हो, तृष्णा और दाह से पीड़ित हो और जिसे तीव्र अग्निमांद्य हो।

३. जिसके रोगग्रस्त भाग पर कृमि हो जाय।

कष्ट साध्य—१. जिसमें दो दोषों के प्रबल लक्षण मिलते हों।

सुखसाध्य—१. जिसमें एक दोष के लक्षण मिलते हों।

चिकित्सा

१. कुष्ठ त्रिदोषज होते हैं, परन्तु जिस दोष के प्रबल लक्षण हों उसकी चिकित्सा प्रारम्भ की जाती है।

२. स्वच्छ वायु तथा प्रकाशयुक्त स्थान में निवास तथा उपयुक्त आहार विहार का उपयोग।

३. वातोल्वण कुष्ठ में सर्व प्रथम घृतपान, पित्तोल्वण में विरेचन और रक्तमोक्षण तथा कफोल्वण में वमन कराना चाहिए। [illegible] में रक्तमोक्षण प्रच्छान द्वारा और महाकुष्ठ में सिरावेध करना चाहिए।

४. संशोधन की प्रक्रिया करते समय वातप्रकोप होने का सन्देह रहता है अतः संशोधनानन्तर यथावश्यक स्नेहपान कराना चाहिए ।

५. स्थिर या कठिन कुष्ठों में स्वेदन भी कराया जाना चाहिए।

६. आँवलासार गंधक को १-८ रत्ती तक की मात्रा में चमेली के पत्तों के रस और मधु के साथ खाना चाहिए।

७. गोमूत्र के साथ शिलाजतु का प्रयोग करना चाहिए या वज्रभस्म को शिलाजीत के साथ प्रतिदिन सेवन करें।

८. लेपों में एलाद्यालेपन, मांस्यादि लेप, त्र्प्वादि लेप, फल-ग्वादि लेप, एडगजादि लेप—इनमें से किसी एक का प्रयोग करें।

९. कुष्ठ, करञ्जवीज, चक्रमर्द इनका लेप करना चाहिए।

१०. चक्रमर्द के वीज, सैंधानमक, रसौंत, कैथ, लोध्र इनका लेप वनाकर प्रयुक्त करें।

११. मुस्तादि चूर्ण, त्रिफलादि चूर्ण, पटोल मूलादि क्वाथ, मध्यासव, कनक विन्द्वरिष्ट—इनमें से किसी एक का प्रयोग किया जा सकता है।

१२. वाह्यप्रयोगार्थ तैल एवं घृत–श्वेत करवीराद्य तैल, तिक्तेक्ष्वाकु तैल, कनकक्षीरी तैल, तिक्तषट्पल घृत, महातिक्त घृत, महाखदिर घृतका प्रयोग करना चाहिए।

१३. चरक सूत्रस्थान, अध्याय ३ में कई कुष्ठघ्न योगों वर्णन है, उनमें से किसी भी योग का प्रयोग ि स

१४. (क) रस माणिक्य १ रत्ती खदिरादि क्वाथ २ तोला के साथ।

(ख) खदिरादि क्वाथ २ तोला

(ग) वाकुची १/२ मा०
खदिर चूर्ण १/२ मा०
कुष्ठ चूर्ण १/१ मा०
शुद्ध गंधक ४ रत्ती
} खदिर क्वाथ के साथ

१५. वाह्यलेपार्थं वाकुची तैल, निम्ब तैल या अर्क तैल का प्रयोग करें।

प्लीहा विकार

प्लीहा की चार प्रधान विकृतियाँ होती हैं—

(१) प्लीहावृद्धि, (२) प्लीहा च्युति,
(३) प्लीहा विद्रधि, (४) प्लीहोदर,

प्लीहाविकार के कारण

प्लीहावृद्धि—

(१) प्लीहा में शोथ।

(२) प्लीहा रक्तवह स्रोतस का मूल है अतः रक्त की विशिष्ट विकृतियों में या रक्त दूष्य वाली कुछ व्याधियों में प्लीहावृद्धि हो जाती है, यथा विषमज्वर (रक्त गत), पाण्डु, कालाजार, श्वेत-कणवृद्धि (Leucaemia)

(३) रक्तवह स्रोतस का मूल यकृत् और प्लीहा है, अतः यकृत् की अवरोधात्मक विकृति से भी प्लीहावृद्धि हो जाती है।

प्लीहा च्युति—प्लीहा को अपने स्थान में स्थिर रखने वाले मांसल भाग के दुर्बल हो जाने के कारण (या आघात से) प्लीहा अपने स्थान से च्युत होकर उदर में स्पर्श की जा सकने योग्य हो जाती है। इसमें वेदना, अपचन तथा उदर गौरव प्रधान लक्षण होते हैं।

प्लीहा विद्रधि—(सु. नि. ९/१७) सुश्रुत ने [illegible] के स्थानों में प्लीहा को भी गिना है और और [illegible]

श्वास (उच्छ्वासावरोध) लिखा है। सर्व प्रथम मिथ्या आहार विहार से प्लीहा में शोफ उत्पन्न होता है। बाद में विद्रधि में परिवर्तित हो जाता है। (सु. नि. ६/३·४) इसमें प्लीहा प्रदेश मेंवेदना, प्लीहावृद्धि, श्वास, दुर्वलता, पाण्डुत्व, ज्वर ये लक्षण उत्पन्न होते है।

प्लीहोदर—

निदान—१. भोजन के पश्चात घोड़े आदि पर सवारी करना।

२. दैहिक चेष्टाओं का संक्षोभ होना।

३. अति व्यवाय, अति व्यायाम तथा अधिक चलना।

४. वमन से या अन्य किसी व्याधि से अधिक कृश होना।

५. रसादि की अधिक वृद्धि होने से रक्त के परिमाण का अधिक बढ़ जाना।

सम्प्राप्ति—

दोष—त्रिदोष   *दूष्य*—रक्त   *स्रोतस*—रक्तवह

अवयव—प्लीहा   *स्रोतोदुष्टि लक्षण*—संग, आमाशयोत्थ

स्वनिदानों से प्रकुपित हुए दोष प्लीहा को बढ़ा देते हैं। प्रवृद्ध हुई प्लीहा उदर को भी घेरने लगती है और विभिन्न लक्षणों की उत्पत्ति होती है। प्लीहा वृद्धि से प्राणवह स्रोतस पर दवाव पड़ने के कारण श्वास तथा कास उत्पन्न होते हैं। प्लीहा-रक्त निर्माण एवं रक्तरंजन का कार्य करती है अतः प्लीहा में विकृति आने पर रक्त

निर्माण में बाधा होने से पाण्डुत्व उत्पन्न हो जाता है । इसके अतिरिक्त ज्वर, दुर्बलता, कृशता, अग्निमांद्य, आनाह, अंगमर्द, छर्दि, आँखों के आगे अंधेरा छा जाना, (मलमूत्र की अप्रवृत्ति), पर्वभेद, उदरशूल. उदर का वर्ण विकृत या अरुणवर्ण, उदरपर नील, हरित, हारिद्र सिराजाल का दिखाई देना, मुख तथा पाद पर शोथ का प्रकट होना आदि लक्षण मिलते हैं । प्लीहोदर भी जीर्णावस्था में जलोदर के रूप में प्रकट हो सकता है । यह प्लीहोदर त्रिदोषज होता है । इसमें उदावर्त, वेदना और आनाह आदि वातज लक्षण होते हैं । मोह, पिपासा, दाह और ज्वर ये पैत्तिक लक्षण होते हैं । गुरुता, अरुचि और कठोरता आदि कफज लक्षण होते हैं । रक्त को दुष्टि से उत्पन्न प्लीहा वृद्धि में विदाह, तृष्णा, विरसता, देह का भारीपन, मूर्छा ये लक्षण मिलते हैं । यदि तीनों दोषों के लक्षण मिलें, तो सान्निपातिक प्लीहोदर कहलाता है ।

चिकित्सा—(१) यदि यकृत् की विकृति से प्रभावित हो कर प्लीहा वृद्धि हो गई हो, तब प्रथमतः यकृत् की चिकित्सा करनी चाहिए । यदि रक्त धातुगत विभिन्न ज्वरों से प्लीहा वृद्धि हुई हो, तो प्रथमतः उन ज्वरों की चिकित्सा करनी चाहिए ।

२. यदि प्लीहा रोग या प्लीहोदर हो, तो सर्व प्रथम उपस्थित लक्षणों के आधार पर दोषों को निश्चित करनी चाहिए और तदनुसार चिकित्सा करनी चाहिए ।

३. रोगी के बल और दोषों की अवस्था को देखकर स्नेहन, स्वेदन, विरेचन तथा अनुवासन कराना चाहिए ।

४. वामबाहु में सिरावेध करके रक्त निर्हरण करना चाहिए, विशेषतः जब रक्त की वृद्धि से प्लीहा वृद्धि हुई हो।

५. षट्पल घृत तथा ग्रहणी, अर्श व गुल्म रोगों में प्रयुक्त अरिष्टों तथा क्षारों का प्रयोग भी किया जा सकता है।

६. पिप्पल्यादि चूर्ण, विडंगादि क्षार, रोहीतक घृत का प्रयोग करना चाहिए।

७. प्लीहा में वात और कफके अधिक लक्षण मिलते हों, तो अग्निकर्म करना चाहिए।

८. पैत्तिक लक्षणों के अधिक होने पर जीवनीयघृत, वस्तियाँ, रक्तावसेचन तथा विरेचन द्वारा संशोधन करना चाहिए और पथ्य में दूध देना चाहिए।

९. तक्र का प्रयोग हितकर होता है। तक्रमेंमधु, तैल, वचा, शुण्ठी, सोया, कुष्ठ तथा सेंधानमक समुचित मात्रामें मिलाकर प्रयुक्त करें।

१०. **योग**—उदरारि रस (र. यो. सा.). आरोग्य वर्धिनी, अभ्रक रसायन, अग्निकुमार रस, अग्निकुमार लौह, वृहत् गुल्म कालानल रस, ताम्र पर्पटी, प्लीहशार्दूल रस, प्लीहान्तक रस, वज्रक्षार, शंखद्राव, लोकनाथ रस, सरपुंखा चूर्ण, रोहीतक चूर्ण।

इन योगों में से दोषों के प्रकोपानुसार तथा रोगीकी स्वतन्त्रता और परतन्त्रता का पूर्ण ध्यान रखते हुए उपयोग करना चाहिए।

—

४३.

यकृत् के विकार

यकृत् के दो प्रधान विकार होते हैं ।

१. यकृत् वृद्धि, २. यकृद्दाल्युदर ।

—यकृत्वृद्धि के कारण—

१. प्रायः जिन कारणों से प्लीहा की वृद्धि होती है उन्हीं कारणों सेयकृत् की भी वृद्धि होती है, यथा–ज्वर, श्वेतकण वृद्धि या ल्यूकीमिया आदि ।

२. यकृत् में शोथ होने से परिणामतः यकृत् वृद्धि होती है ।

३. यकृत्–विद्रधि । ४. पित्तवाहिनी का अवरोध ।

५. यकृत् का घातक अर्बुद । ६. यकृद्दाल्युदर ।

—यकृद्दाल्युदर—

यह उदर रोगका एक भेद है जिसमें यकृत्वृद्धि होकर उदररोग होजाता है । यकृत्वृद्धि ही जब उदर को घेर लेती है और उदर उत्सेधयुक्त बन जाता है तब उसकी यकृद्दाल्युदर संज्ञा होती है । इसके निदान तथा लक्षण प्रायः प्लीहोदर के समान ही होते हैं । इसके अतिरिक्त यदि यकृत् में शोथ या कोई अवरोध हो तो कामला उत्पन्न हो जाता है । यकृत् शरीर के दक्षिणपार्श्व

में उदरगुहान्तर्गत होके रहता है। इसके बढ़ने से भी प्राणवहस्रोतों पर दबाब पड़कर श्वास कासादि लक्षण उत्पन्न होते हैं । यकृद्दाल्युदर से भी अन्त्रमें जलोदर हो सकता है। जलोदर की अवस्था में बढ़ा हुआ यकृत् भी उदर में स्पर्श नहीं होता, कारण कि उदरस्थ जल अपने बल से यकृत् को ऊपर की ओर धकेल देता है। ऐसी दशा में यकृत्वृद्धि का ज्ञान आकोठन परीक्षा से करके किया जाता है। वैसे भी जल संचय के कारण उन्नत उदर में स्पर्श से प्लीहावृद्धि का ज्ञान एक व्यावहारिक कठिनाई है। प्लीहादोष के समान यकृत् दोष भी वातज, पैतिक, कफज, रक्तज तथा सान्निपातिक भेद से ५ प्रकार के समझने चाहिए।

—चिकित्सा—

१. इसकी चिकित्सा प्लीहा के समान ही की जाती है, परन्तु प्लीहारोग की भाँति यकृत् के विकारों में रक्तनिर्हरण या सिरावेध नहीं किया जाता है। प्लीहा की व्याधियों में रक्तनिर्हरण करना बतलाया गया है।

२. यकृत् पर कार्य करने वाले द्रव्यों का प्रयोग किया जाना चाहिये।

वातरक्त

इस व्याधि में छोटी संधियों में वेदनायुक्त शोथ होता है।

निदान—(१) लवण, अम्ल, कटु, क्षार, स्निग्ध तथा उष्ण भोजन।

(२) अजीर्ण होने पर भी आहार करना।

(३) क्लिन्न या शुष्क मांस व जलेशय तथा आनूप प्राणियों के मांसों का सेवन।

(४) पिण्याक, मूली, कुलत्थ, उड़द, निष्पाव (सेम), पत्रका शाक, मांस, ईख, दही, कांजी, सौवीर, शुक्त, छाछ, सुरा तथा आसव इनका अधिक सेवन करना।

(५) विरुद्ध भोजन करना।

(६) क्रोध, दिवास्वप्न, रात्रि जागरण, मिष्ठान्न, आस्या-सुख, जलक्रीड़ा, कूदना, घोड़ा या ऊँट की सवारी। ये इस रोग के मुख्य कारण हैं।

सम्प्राप्ति—उपर्युक्त कारणों से वात तथा रक्त की दुष्टि होती हैं और वे दोनों संधियों में स्थान संश्रय करते हैं। वहाँ पर रक्त वात के मार्ग को रोक देता है और तब वातरक्त उत्पन्न होता है। इसे खुड्डवात, वातवलास तथा आढ्यवात के नाम से भी कहा गया है।

दोष—वात प्रधान । दूष्य-रक्त । स्रोतस-रक्तवह स्रोतस । अधिष्ठान-संधि । स्रोतो दुष्टि लक्षण-संग चिरकारी । रोगोत्पत्ति स्थान-पक्वाशयोत्थ ।

विवेचन—वातरक्त में वात द्वारा रक्त की दुष्टि बतलाई गई है । रक्त शरीर में घूमता हुआ जब संधियों में पहुँचता है और वहाँ वात एवं रक्त की सम्मूर्छना होती है तब वातरक्त उत्पन्न होता है। यह प्रथम हाथ और पैर की संधियों को आक्रान्त करता है और पश्चात् बड़ी संधियों को भी पीड़ित करता है। (च० चि० अ० २९।११) संधियों में (सर्व प्रथम हाथ और पैर की अंगुलियों की संधियों में) वेदना होती है (च० चि० अ० २९।१४) । यही रोगी की प्रधान वेदना होती है । यद्यपि वातरक्त एक त्रिदोषज व्याधि है तथापि इसमें वात की विशेष दुष्टि होती है और प्रारम्भ में वात की ही दुष्टि होती है अतः संधि वेदना प्रथम लक्षण के रूप में उप स्थित होती है । 'वातरक्त' इस नाम से यह महत्व अभिप्रेत है कि यद्यपि वेदना संधि में होती है परन्तु वास्तविक दुष्टि संधि की नहीं अपितु रक्त और वात की होती है । इसमें रक्त दुष्ट होता है, अतएव इसे रक्तप्रदोषज विकारों में गिना गया है । वात दुष्टि के प्रधान लक्षण के रूप में वेदना, शोथ एवं वैवर्ण्य तथा रक्त की दुष्टि में रक्तगत श्वेत कणों की वृद्धि परीक्षण से ज्ञात होती है ।

वर्षा ऋतु में वातदुष्टि और शरद् ऋतु में रक्तदुष्टि हुआ करती है अतः वातरक्त भी प्रायः इन्हीं ऋतुओं में होता है । रक्त-दुष्टि के लक्षण स्वरूप अग्निसाद, संताप, क्रोध प्रचुरता, स्वेद तथा कभी सम्मोह भी मिल सकता है । (च. सू. अ. २४)

वातरक्त के उपद्रवों में निम्नलिखित उपद्रव अधिकतर मिलते हैं। ज्वर-कम्पनयुक्त, तृष्णा तथा वेदना के कारण रोगी का रात्रि को अचानक उठ जाना तथा निद्रानाश।

पूर्वरूप—(१) पसीना अधिक आता है या बिल्कुल नहीं आता है। (२) पीड़ित संधि पर कृष्णाभता मिलती है। (३) संधि शैथिल्य। (४) आलस्य। (५) संधियों में ठहर-ठहर कर वार-वार पीड़ा होना। (६) विवर्णता।

वातरक्तभेद—वातरक्त को प्रथम दो भागों में विभाजित किया गया है।

(१) उत्तान वातरक्त (२) गम्भीर वातरक्त। उत्तान वातरक्त में रोग का आश्रय त्वचा और मांस होता है और जब उसका आश्रय गम्भीर धातुओं में होता है, तब उसे गम्भीर वातरक्त कहते हैं।

पुनश्च वातरक्त के आश्रय भेद से तथा दोष भेद से दो विभाग हैं। आश्रय भेद के भी उत्तान, गम्भीर और उभयाश्रित ऐसे तीन भेद होते हैं तथा दोष भेद से हुए वातरक्त के वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, द्वन्द्वज, त्रिदोषज एवं रक्तज ऐसे छः भेद होते हैं।

उत्तान वातरक्त के लक्षणः—

(१) त्वचा में कण्डू, पीड़ा, आयाम, तोद, स्फुरण और कुञ्चन।

(२) त्वचा का वर्ण श्याम, रक्त तथा ताम्र वर्ण का होता है। ये सभी लक्षण संधि के ऊपर की त्वचा पर होते हैं।

गम्भीर वात के लक्षण:—

(१) स्तब्ध और कठोर शोथ होता है ।

(२) आक्रान्त संधि में अधिक पीड़ा होती है ।

(३) आक्रान्त स्थान की त्वचा का वर्ण श्याम या ताम्रवर्ण होता है ।

(४) दाह, तोद और स्फुरण । (५) पाक हो सकता है ।

उभयाश्रित वातरक्त में—दोनों के लक्षण मिलते हैं ।

वातोल्वण वातरक्त के लक्षण:—

(१) सिराओं में खिचावट ।

(२) शूल, स्फुरण और तोद ।

(३) संधि में शोथ और उसका वर्ण कृष्ण या श्याम होता है । शोथ रूक्ष होता है । शोथ कभी बढ़ जाता है, और कभी घट जाता है ।

(४) धमनी और अंगुली की संधियों में संकोच ।

(५) अंगग्रह, अति वेदना, देह का आकुञ्चन तथा स्तम्भ और शीत से द्वेष ।

रक्तोल्वण वातरक्त के लक्षण:—

(१) वेदनायुक्त शोथ । (२) तोद तथा चिमचिमाहट ।

(३) शोथस्थान ताम्रवर्ण का ।

(४) कण्डू और क्लिन्नता युक्तशोथ ।

पित्तोल्बण वातरक्त के लक्षण—

(१) शोथ (रक्तवर्ण युक्त), पाक, स्पर्शासह्यता ।

(२) विदाह, ज्वर, स्वेद, तृषा, शोष, भेद ।

कफोल्बण वातरक्त के लक्षणः—

(१) स्तिमितता, गोरव, स्नेह, सुप्ति । (२) मन्द वेदना ।

दो दोपों के लक्षणों के मिलने पर द्वन्द्वज और तीनों दोषों के लक्षणों के मिलने पर *सान्निपातिक* वातरक्त कहलाता है ।

साध्यासाध्यताः—

(१) एकदोषज तथा नवीन वातरक्त साध्य होता है ।

(२) द्विदोषज वातरक्त याप्य होता है ।

(३) त्रिदोषज और अधिक उपद्रवयुक्त वातरक्त असाध्य होता है ।

उपद्रव—निद्रानाश, मोह, अंगुली कावक्र हो जाना, पांगुल्य, तोद, भ्रम, पाक, विसर्प, हिक्का मर्मग्रह, वेदना ।

चिकित्सा—(१) सर्वप्रथम निदान परिवर्जन कराना चाहिये । दिवास्वप्न, व्यायाम, जलेशय तथा आनूपमांस, चाय, क़ाफ़ी, सुरा तथा आसव इनका प्रयोग नहीं करना चाहिए ।

(२) वातरक्त में रक्त की प्रधान दुष्टि होती है, अतः रोगी की अवस्था, बल तथा दोषों के लक्षणों को देखकर रक्त निर्हरण करना चाहिए।

रक्तनिर्हरण में सावधानियाँ—

(क) रक्तनिर्हरण बार बार किन्तु अल्प प्रमाण में करना चाहिए।

(ख) रक्तनिर्हरण से वातवृद्धि हो जाती है और वातरक्त में वात प्रधान दोष है। अतः रक्तनिर्हरण करते समय सदा ध्यान में रखें कि वातवृद्धि न होने पावे और यदि हो जाय तो उसका तत्काल उपचार करना चाहिए।

(ग) यदि अंगशोष हो, तो रक्तनिर्हरण नहीं करना चाहिए।

(घ) यदि रोगी अधिक रूक्ष हो और वात के अधिक लक्षण मिलते हों, तो रक्तनिर्हरण नहीं करना चाहिए।

(ङ.) वातिक में अलाबु से, पैत्तिक में जलौका से और कफज में शृङ्ग से रक्तनिर्हरण करना चाहिए।

(च) जो वातरक्त कभी किसी संधि में और कभी किसी अन्य सन्धि में हो जाता हो, उसमें रक्तनिर्हरण सिरावेध या प्रच्छान से करना चाहिए।

(३) स्नेहन कराकर मृदुविरेचन तथा बराबर बस्तिकर्म करना चाहिए। तीक्ष्ण विरेचन नहीं देना चाहिए, कारण कि उससे वातवृद्धि का भय होता हैं।

वातरक्त की चिकित्सा के उपर्युक्त तीन सामान्य सिद्धान्त हैं।

(४) *उत्तान या बाह्यवातरक्त* की आलेप, अभ्यंग, परिसेचन तथा उपनाह द्वारा चिकित्सा की जाती है। गम्भीर वातरक्त में विरेचन, आस्थापन और स्नेहपान द्वारा चिकित्सा की जाती है।

(५) *वातप्रधान वातरक्त* में घृत, तैल, वसा और मज्जा इन चारों स्नेहों में से यथोचित स्नेह का पान कराना चाहिए तथा इनका अभ्यंग एवं वस्ति में प्रयोग भी करें। सुखोष्ण उपनाह का भी प्रयोग किया जा सकता है।

(६) *रक्त और पित्त प्रधान* वातरक्त में विरेचन, घृतपान, दुग्ध पान, परिसेचन, वस्तिकर्म तथा शीतल और दाहशामक लेपों से चिकित्सा करनी चाहिए।

(७) *कफोल्वण* वातरक्त में मृदु वमन तथा सुखोष्ण लेप।

(८) सभी प्रकार के वातरक्त में आभ्यन्तरिक प्रयोग के लिए चरकोक्त निम्नलिखित घृतों या तैलों का प्रयोग करना चाहिए।

वलाघृत, जीवनीय घृत, मधुयष्ठ्यादि तैल, सुकुमार तैल, अमृताद्य तैल, महापद्म तैल, शतपाक मधुपर्णी तैल, बला तैल।

वाह्य प्रयोगों के लिए वलातैल या पिण्डौला का प्रयोग करें।

आक्रांत स्थान पर लेप—सर्षपादि लेप, प्रपौण्डरीकाद्य लेप, कपित्थत्वगादि लेप, गृहधूमादि प्रलेप तथा तगरादि प्रलेप का प्रयोग करें ।

(१०) उपद्रवों की लाक्षणिक चिकित्सा करनी चाहिए ।

(११) *रसादिकों में से*—अग्निकुमार रस, अमृतादिघृत, खण्डकाद्यवलेह, गूडूची लौह, पुनर्नवा गुग्गुल, वातरक्तान्तक रस, महातिक्त घृत, योगराज गुग्गुल, कैशोर गुग्गुलु, सोमनाथी ताम्र, भल्लातक पाक, मंजिष्ठाद्यर्क, सारिवाद्यासव तथा गुडूच्यादि तैल इनमें से अवस्थानुसार किसी का भी प्रयोग दक्ष वैद्य के आदेशानुसार उचित मात्रा, अनुपानादि के साथ किया जा सकता है ।

४५.

अर्श

इस रोग की गणना मांसज विकारों में की गई है, इस रोग में गुदवलियों में मांसाकुर उत्पन्न हो जाते हैं। चरक ने चिकित्सा स्थान में इस रोग का वर्णन करते हुए मांस, त्वचा तथा मेद को अर्श में दूष्य बतलाया है। त्वचा मांस की उपधातु है। सुश्रुत ने अर्श की सम्प्राप्ति में प्रधान धमनी की भी दुष्टि बतलाई है। गुदा में तीन वलियां होती हैं; प्रत्येक वली १।। अंगुल होती है। ये मांसपेशियाँ (वलियाँ) ऊपर से आभ्यंतरिक त्वचा से आवत, कुछ मेदयुक्त तथा धमनी, सिरायुक्त होती हैं। ये सिरायें ही उठकर या फूलकर मांसांकुरों के रूप में दीखती हैं। इसीलिए सुश्रुत ने सिरादुष्टि तथा रक्तदुष्टि को भी अर्श में माना है। इन मास पेशियों में या तो जन्मजात दुर्वलता रहती है (सहज अर्श) या जन्मोत्तर काल में निदान से इनमें दुर्वलता आ जाती है जिससे तत्रस्थ सिरायें उठजाती हैं और अर्श उत्पन्न होजाता है। अतः अर्श में रक्तवह स्रोतस की भी विकृति होती है, अतः रक्तवह स्रोतोमूल यकृत् और प्लीहा की विकृति में अर्श की, और अर्श में यकृत् तथा प्लीहा के कार्य में विकृति की, सम्भावना हो सकती है।

वास्तव में अर्श रोग को बहुत कठिन बताया गया है, कारण कि इसमें पांचों प्रकार के वायु, पित्त तथा कफ प्रकुपित होते हैं और इसीलिए इसमें सभी स्रोतसों की दुष्टि के कुछ न कुछ लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। सामान्यतः अर्श का क्षेत्र गुदा है परन्तु कुछ

शास्त्रकार अर्शवत् विकृति गला, मुख, शिश्न, अपत्यपथ, नासिका, कर्ण, अक्षिवर्त्म, तथा त्वचा में भी मानते हैं। परन्तु अर्श से गुदज अर्श ही समझा जाता है। सुश्रुत ने अन्य स्थानों पर होने वाले आर्शों का भी वर्णन किया है।

सहज अर्श जन्मजात होते हैं। इनके आकार तथा प्रकार भिन्न भिन्न होते हैं; छोटे, बड़े, गोल, विषमरूप से फैले हुए कुटिल एवं जटिल। ये अर्श वायु से लालवर्ण, पित्त से नीलवर्ण के तथा कफ से श्वेतवर्ण के होते हैं।

जन्मोत्तर कालज अर्श—

निदान—

१—मिथ्या आहार–विहार से।

२—विदाहि अन्न तथा पूतिमांस खाने से।

३—पंचकर्म के अयथा प्रयोग करने से।

४—कठोर आसन पर अधिक बैठने से।

५—पत्थर, मिट्टी तथा घासफूस से गुदा को साफ करना।

६—अधिक कुन्थन। ७—वेगधारण।

८—गर्भस्राव, गर्भपात एवं विषम प्रसव।

सम्प्राप्ति—

इन सभी निदानों से प्रकुपित तीनों दोष रस तथा रक्त को दुष्ट करके प्रधान धमनी के द्वारा गुदा में पहुँचकर, तत्रस्थ, मांस-

नेशियों (गुदवलियों) में स्थान संश्रय करके मांसांकुर उत्पन्न कर देते हैं जिससे अर्श रोग उत्पन्न हो जाता है।

१—दोष-त्रिदोष २—दूष्य-रस-रक्त-मांस-मेद-त्वक् ।

३—स्रोतस-रक्तवह-मांसवह । ४—अधिष्ठान—गुदवलियाँ ।

५—स्रोतोदुष्टि लक्षण—संग ६—चिरकारी व्याधि है ।

७—आमाशयोत्थ—पक्वाशयोत्थ ।

प्रत्येक अर्श के रोगी में अग्निमांद्य, आम तथा संग ये तीन प्रमुख घटनायें अवश्य रहती हैं ।

अर्शों के भेद—

१—दोष भेद से अर्श ६ प्रकार का मान सकते हैं—वातज, पैत्तिक, कफज, सान्निपातिक, रक्तज एवं सहज । कुछ शास्त्रकार द्वन्द्वज भी मानते हैं । यद्यपि अर्श हमेशा त्रिदोष होता है फिर भी लक्षणों की अधिकता के आधार पर उपर्युक्त भेद किये गये हैं ।

२—उत्पति एव अवस्था भेद से—सहज—जन्मोत्तर कालज । शुष्कार्श तथा रक्तार्श (आर्द्र अर्श) ।

३—आभ्यंतरिक वलि में संश्रित अर्श आभ्यंतरिक अर्श कहलाता और वाहयवलि स्थित अर्श वाहयअर्श कहलाता है ।

अर्श के पूर्वरूप—

अजीर्ण, आटोप, विवंध, ग्रहणीदोष, उद्गार वाहुल्य, कार्श्य, गुदा में पीड़ा, ग्रहणी रोग की आशंका होना, दौर्बल्य ।

अर्श के सामान्य लक्षण—

कभी विबंध, कभी अतिसार,—परन्तु प्राय: विबंध रहता है, उदर में आटोप-आध्मान, दौर्बल्य, आलस्य, गुदा में शूल या दाह, मल के साथ रक्त का आना, मल निकलते समय गुदा में शूल या दाह।

वातोल्वण, पित्तोल्वण तथा कफोल्वण अर्शों के कारण (निदान) दोषानुसार समझे जा सकते हैं।

लक्षण

	वातोल्वण अर्श	पित्तोल्वण अर्श	कफोल्वण अर्श
अर्शांकुर—	शुष्क	मृदु	मृदु
	श्यामवर्ण	रक्त-कृष्ण वर्ण	श्वेत-पाण्डुर वर्ण
	रूक्ष	स्निग्ध	स्निग्ध
	स्पर्शसह	स्पर्शासह	स्पर्शसह
	आध्मान	ज्वर-तृषा	गौरव
	त्रिक्शूल	कण्डू	हृल्लास
	प्रवाहिका	दाह	प्रवाहिका

अर्श रोग का साध्यासाध्यत्व

१—सहज अर्श तथा सान्निपातिक अर्श असाध्य होते हैं। जो अर्श सबसे अन्दर के वली में हो, उसे भी असाध्य समझें। फिर चिकित्सक, परिचारक एवं औषध के उपलब्ध होने पर इन्हें याप्य बनाया जा सकता है।

२—यदि अर्श के रोगी के हाथ, पैर, मुख, नाभि, गुदा और अण्डकोषों में शोथ हो तथा हृदय और पार्श्व में शूल हो तो उसे असाध्य समझना चाहिये।

३—जो अर्श द्वन्दज हैं, दूसरी वली में अधिष्ठित है तथा एक वर्ष से भी पुराने हैं; बाह्य वली में अधिष्ठित हैं, तथा एक वर्ष से भी पुराने है, उन्हें कष्टसाध्य समझना चाहिये।

४—जो एक दोषोल्वण हो; बाह्य वली में अधिष्ठित हो तथा एक वर्ष से कम समय के हों, उन्हें साध्य समझें।

अर्श रोग की चिकित्सा

१—अर्श की चिकित्सा भेषज से, क्षार से, अग्नि से तथा शस्त्र से की जाती है। अग्नि कर्म, क्षारकर्म, तथा शस्त्र कर्म शल्य चिकित्सा के अधिकार में आता है। चरक के कथनानुसार इन शल्य कर्मों से ठीक किया गया अर्श पुनः उत्पन्न हो सकता है, अतः भेषज चिकित्सा ही अर्श की उत्तम चिकित्सा मानी जानी चाहिये।

२—चिकित्सा सौकार्य के लिये अर्श को प्रथम शुष्क तथा आर्द्र—इन भागों में विभक्त करते हैं।

३—शुष्क अर्श की चिकित्सा

ये अर्श वातोल्वण या वात-कफोल्वण होते हैं। यदि ये अर्श स्तब्ध, शोथयुक्त तथा शूलयुक्त हों तो अर्श पर पिण्डस्वेद करना चाहिये। विभिन्न वातशामक द्रव्यों से साधित तैल तथा क्वाथ से अभ्यंग, परिषेचन एवं अवगाहन करायें, साथ ही अर्श पर औषधियों से धूपन भी कराना चाहिये।

४—रक्तार्श या आर्द्र अर्श प्रथम दोष विवेचन करके निश्चित करना चाहिये कि यदि पित्त या रक्त दोप प्रधान हो और अति रक्त स्राव हो रहा हो तो उसका स्तम्भन कराना चाहिये। यदि वात और कफ का अनुवंध हो तो स्तम्भन नहीं करना चाहिये। कुटज, चन्दन, दारुहरिद्रा तथा नाग केशर स्तम्भन का कार्य अच्छा करते हैं। नागकेशर चूर्ण और शंखोदर को समान मात्रा में मिलाकर ४ रत्ती की मात्रा में दिन में ३ वार पानी के साथ देने से वहुत लाभ देखा जाता है।

५—अर्श अग्नि मांद्य प्रधान विकार है; साथ ही इसमें मल तथा वायु की प्रवृत्ति नहीं होती। अतः कोई रेचक तथा वाता—नुलोमक औषद्य दी जानी चाहिये।

६—यदि प्रवाहण हो रहा हो, रक्त स्राव हो रहा हो तथा गुद-भ्रश हो गया हो तो पिच्छावस्ति (चरक चि. १४/२२८) का प्रयोग लाभप्रद होता है।

७—अर्श में भल्लातक का भी विविध योगों में प्रयोग किया जाता हैं। अर्श में कुटज का भी बहुत महत्व वतलाया गया है।

प्रचलित योग—कांकायन गुटी, अभयारिष्ट, भल्लातकावलेह, चाङ्गेरी घृत, चुन्क तैल, अर्श कुठार रस आदि।

पथ्य—कुलत्थ, यव, गोधूम, कांजी, शूरण, पटोल, वास्तुक, तक्र, नवनीत, अजादुग्ध, मृगमांस, आमलकी,

अपथ्य—वेगावरोध, मैथुन, पृष्ठयान, उत्कटकासन तथा जो दोष प्रधान हो उसको प्रकुपित करने-वाले निदान।

४६.

गले के विकार

गलगण्ड

गले के सामने तथा पार्श्वों में शोथ हो जाता है जिसे गलगण्ड कहते हैं। यह वस्तुतः अवटुका ग्रंथि के वढ़ जाने पर है।

ायु तथा कफ दूषित होकर मांस एवं मेद को दूषित करके ा उत्पन्न कर देते हैं।

भेद—गलगण्ड के तीन मुख्य प्रकार हैं—वातज, श्लैष्मिक (कफज) और मेदोज।

लक्षण

वातज—इस भेद में गलगण्ड में सुई चुभोने की सी वेदना, सिरायुक्त, श्याव या अरुणवर्ण युक्त, स्पर्श में कर्कश, धीरे धीरे वढ़ने वाला एवं पाक रहित—ये लक्षण मिलते हैं।

कफज—यह गलगण्ड चल, भारी, कण्डूयुक्त, वहुत वड़ा होता है।

मेद —यह गलगण्ड मृदु, चिकना, भूरे रंग का, इसका मूल कुछ पतला तथा यह गलगण्ड तुम्वी के समान लट जाता है। रोगी की वाणी अस्पष्ट हो जाती है।

गण्डमाला

यह भी वात कफ प्रधान रोग है। इसमें भी मांस और मेद की दुष्टि हो जाती है। कक्षा, अंस प्रदेश, मन्या, गला तथा वंक्षण प्रदेश में बड़े बेर, झड़ बेर या आँवले के आकार की कई गांठें हो जाती हैं जो कुछ समय बाद धीरे धीरे पकने लगती हैं— इसे गण्डमाला रोग कहते हैं।

अपची

गण्डमाला की कुछ ग्रंथियाँ फूट जाती हैं और ठीक हो जाती हैं। कुछ पुनः उत्पन्न हो जाती हैं। ऐसे बहुत समय तक इन छोटी ग्रंथियों का पकना और ठीक होना तथा पुनः पक जाना अपची रोग कहलाता है। इसमें भी कफ–वात दोष तथा मेद–मांस दूष्य होते हैं।

चिकित्सा

१—गलगण्ड, गण्डमाला तथा अपची में प्रायः समान चिकित्सा की जाती है।

२—स्नेहन, स्वेदन, शोधन, शमन तथा लेखन कर्म करने चाहिए।

३—कांचनार गुग्गुल, ताम्र भस्म, स्वर्णवसंत मालती, चन्द्रप्रभा, मनः शिला का यथायोग्य प्रयोग करना चाहिए।

४—कांचनारत्वक् लेप, वरुणत्वक् लेप, तुम्बी तैल तथा गुन्जातैल में से कोई एक बाह्य प्रयोगार्थ चुनना चाहिए।

५—कोष्ठ साफ रखना चाहिए और दीपन पाचन औषध भी देनी चाहिए।

४७.

प्रमेह

इस रोग में मूत्र की बार बार अधिकमात्रा में प्रवृत्ति होती है और मूत्र गंदा (आविल) निकलता है।

निदान—१. आसन पर बैठे रहना; कुछ भी व्यायाम न करना।

२. अधिक शयन करना।

३. दूध तथा दही का तथा उससे बने हुए मिष्ठान्नों का अधिक उपयोग करना।

४. ग्राम्य, औदक तथा आनूप मांस रसों का सेवन।

५. नवीन अन्न का अधिक उपयोग करना।

सम्प्राप्ति—इन निदानों से विशेषतः कफ दुष्ट होता है। यह प्रदुष्ट कफ मेद, मांस और क्लेद को दूषित (बढ़ाकर अधिक द्रव) करता है और मूत्रवह स्रोतोदुष्टि करके प्रमेह रोग उत्पन्न करता है। यह प्रमेह की सामान्य सम्प्राप्ति है। २० प्रकार के प्रमेहों की विशिष्ट सम्प्राप्तियों को देखने पर ज्ञात होता है कि प्रमेह एक त्रिदोषज व्याधि है; इसमें कफ प्रधान एवं सामान्य दोष है; सभी धातुओं की दुष्टि होती है परन्तु मेद प्रधान दूष्य है तथा मेद, मांस और क्लेद सामान्य दूष्य हैं। प्रमेह में कफ तथा मेद बढ़ते हैं और बहुत द्रव हो जाते हैं।

१. दोष—कफ प्रधान (त्रिदोषज)

२. दूष्य—मेद प्रधान (सभी धातुयें तथा ओज और मूत्र)

३. स्रोतस—मेदोवह एवं मूत्रवह

४. स्रोतोदुष्टि लक्षण—अति प्रवृत्ति

५. आमाशयोत्थ तथा पक्वाशयोत्थ व्याधि है।

६. चिरकारी है।

लक्षण—

प्रमेह की व्युत्पत्ति 'प्रकर्षेण मेहतीति प्रमेहः' से तथा उसके प्रत्यात्म लक्षण 'प्रभूताविल मूत्रता' से स्पष्ट हो जाता है कि इसमें १. प्रभूत मूत्रता और २. आविल मूत्रता ये दो प्रधान लक्षण होते हैं। प्रमेह का रोगी निम्न लिखित चार मुख्य लक्षणों को लेकर आता है—

१. वार वार मूत्रत्याग करना पड़ता है; मूत्र गंदला आता है।

२. भूख अधिक लगती है; प्यास अधिक लगती है।

३. दुर्बलता मालूम होती है।

४. हाथ पैरों में जलन होती है एवं पसीना अधिक आता है।

विवेचन—

इन लक्षणों में प्रथम लक्षण पर ध्यान दीजिये। मूत्र का अधिक आना या बार बार आना मूत्र की अति प्रवृत्ति कहलाती है जो कि मूत्रवह स्रोतोदुष्टि का लक्षण है। आविल मूत्रता मूत्र में

शरीर के धारक तत्वों के निकलने का द्योतक है। मूत्र का कार्य क्लेदन बतलाया गया है। शरीर में जितना भी जलीयांश रहता है वह क्लेदन का कार्य करता है। यह जलीयांश (अप् धातु) जब मूत्र मार्ग से बाहर निकलता है तब मूत्र कहलाता है। और जब रोमकूपों से निकलता है तब स्वेद कहलाता है। अतएव मूत्र और स्वेद का भी वही कर्म है जो अप् धातु का है—अर्थात् 'क्लेदन' कार्य अप्, स्वेद तथा मूत्र का है। शरीर से मूत्र के अधिक मात्रा में निकल जाने पर स्वभावतः उसका प्राकृत कर्म—क्लेदन नहीं हो पायेगा या कम होगा। अतः प्रमेह में 'क्लेद' को दूष्य माना गया है। क्लेद शरीरस्थ जलीयांश का उपलक्षण मात्र है।

शरीर का स्वभाव है कि एक ही कार्य करने वाले दो द्रव्यों या अवयवों में से यदि एक में कोई विकृति आ जाती है और वह अपना प्राकृत कर्म नहीं कर पाता है तो उसी कर्म को करने वाला दूसरा अवयव या द्रव्य अधिक सक्रिय हो जाता है। शरीर से मूत्र के अधिक मात्रा में निकल जाने पर क्लेदन की कमी को पूरा करने के लिए स्वेद को ही कार्य करना चाहिए। इसके लिए स्वेद की अधिक उत्पत्ति होनी चाहिए। स्वेद मेदोधातु का मल है; अधिक स्वेदोत्पत्ति के लिए मेद में वैषम्य आ जाता है; अतः प्रमेह में मेद मुख्य एवं सभी प्रमेहो के लिए सामान्य दूष्य होता है। मेद की विकृति से तन्मूल वृक्क एवं वपावहन की विकृति भी होती है। वृक्क मूत्रवह स्रोतस के भी मूल हैं जिस (स्रोतस) की दुष्टि से प्रभूत मूत्रता उत्पन्न होती है।

किसी भी प्रकार के प्रमेह में प्रमेह पिड़िकायें हो सकती हैं। पिड़िकाओं में रक्त और मांस दूष्य होते हैं। जो पिड़िकायें अल्पपो-

ड़ादायक तथा सुखसाध्य होती हैं उनमें रक्त की दुष्टि और जो अधिक पीड़ाकर एवं कृच्छ्रसाध्य होती हैं उनमें मांस की दुष्टि होती है। क्योंकि प्रमेह पिड़िकायें अति कष्टदायक एवं कृच्छ्रसाध्य होती हैं, अतः प्रमेह में मांस को सामान्य दूष्यों में गिना गया है। इस प्रकार प्रमेह में सामान्य दूष्य (१) मेद (२) मांस और (३) क्लेद को बताया गया है। प्रमेह में सभी धातुओं का अंश मूत्र में निकलता है जिससे आविल मूत्रता होती है। सभी धातुओं के क्षय के लक्षण मिलते हैं, अतः प्रमेह में सभी धातुओं की दुष्टि होती है।

१. प्रमेह में प्रभूत मूत्रता क्यों होती है?
   क्योंकि मूत्र निर्माण अधिक होता है और मूत्रवह स्रोतस की दुष्टि होती है।
२. मूत्र निर्माण अधिक क्यों होता है?
   क्योंकि मूत्र की पूर्ववर्ती अप धातु तथा स्वेदोत्पादक मेदोधातु की वृद्धि होती है।
३. मेदोधातु की वृद्धि क्यों होती है?

क्योंकि तद्वर्धक आहार विहार किया गया होता है। मेदोवर्धक आहार विहार से (निदान देखें) दोषों में कफ का प्रकोप होता है, इसलिए प्रमेह में कफ प्रधान दोष होता है। पश्चात् सभी दोष विकृत हो जाते हैं और प्रमेह त्रिदोषज रोग बन जाता है।

प्रमेह के भेद—

प्रमेह २० प्रकार का बतलाया गया है। ये भेद मूत्र की विकृति के आधार पर किये गए हैं और उनके नाम से ही उनके विशिष्ट लक्षण का पता चल जाता है। कफज प्रमेह के १० भेद, पित्तज प्रमेह के ६ भेद और वातज प्रमेह के ४ भेद किये जाते हैं जो मिलकर २० होते हैं।

कफज प्रमेह के भेद:—उदक मेह, इक्षुवालिकारस मेह, सान्द्र मेह, सान्द्र प्रसाद मेह, शुक्लमेह, शुक्रमेह, शीतमेह, सिकतामेह, शनैर्मेह, आलाल मेह।

पित्तज प्रमेह के भेद:—क्षारमेह, कालमेह, नीलमेह, लोहित-मेह, मांजिष्ठ मेह, हारिद्र मेह।

वातज प्रमेह के भेद :—वसामेह, मज्जामेह, हस्तिमेह, मधु-मेह (ओजोमेह)।

साध्यासाध्यता—

साध्य—कफज १० प्रमेह साध्य बतलाये गए हैं, उसके ये कारण हैं—

१—*समान गुण मेदः*—कफ प्रमुख दोष और मेद प्रमुख दूष्य होने के कारण; मेद और कफ के समान गुण होने के कारण साध्य हैं, क्योंकि

२—*कफस्य प्राधान्यात्*:—प्रमेह रोग में कफ प्रधान दोष होता है और,

३—*समक्रियत्वात्*:—कफ की चिकित्सा से ही मेद की भी चिकित्सा की जाती है। कफ और मेद के गुण समान हैं अतः, सरल है।

याप्य—पित्तज ६ प्रमेह याप्य बतलाए गये हैं, उसके ये कारण हैं—

१—*विषम क्रियत्वात्*:—पित्त के उष्ण, तीक्ष्ण, अम्ल, सर तथा कटु गुण प्रमेह के प्रधान दूष्य मेद के विपरीत हैं; पित के स्निग्ध गुण मेद के समान हैं। अतः पित्तज प्रमेहों में औषध निश्चित करना कुछ कठिन हो जाता है। पित्तशामक औषध के कुछ गुण मेदवर्धक हो सकते हैं, अतः पित्तज प्रमेह याप्य बतलाए गए हैं।

असाध्य—*वातज* ४ प्रमेह असाध्य बतलाए गए हैं, कारण कि:—

१—*महात्ययिकत्वात्*—वातज प्रमेहों में शरीर के मज्जा तथा ओज आदि सारभूत अंशों का नाश होता है।

२—*विरूद्धोमकमत्वात्*:—वायु के गुण मेद के गुणों से विपरीत हैं, अतः वातशामक सभी औषधों से मेदो वृद्धि होगी और मेदक्षय कारक औषध से वातवृद्धि होगी। दोष को ठीक करते हैं तो दूष्य बिगड़ता है; दूष्य को ठीक करते हैं तो दोष बिगड़ता है। अतः वातज प्रमेह असाध्य बताये गए हैं। आजकल व्याधि प्रत्यनीक चिकित्सा से ये भेद भी याप्य हैं।

विभेदक निदान

मधुमेह	इक्षुवालिकारस मेह	शीतमेह
१. वातज	कफज	कफज
२. रोगी कृश या स्थूल	रोगी स्थूल	रोगी स्थूल
३. ओजः क्षयके लक्षण	ओज का क्षय नहीं	ओजःक्षय नहीं
४. असाध्य (या याप्य)	साध्य	साध्य
५. मूत्र किंचित् उष्ण	मूत्र किंचित् उष्ण	मूत्रशीत
६. मूत्र कुछ गंदला	मूत्र अधिक गंदला	मूत्र गंदला नहीं
७. मूत्र में बहुत मधुरता	मूत्र में कुछ कम मधुरता।	मूत्र में बहुत कम मधुरता।
८. चिरकारी	आशुकारी	आशुकारी

मधुमेह—

१—यह वातज प्रकार का प्रमेह है, जिसमें मूत्र मधुर निकलता है और उसका विभेदक निदान ऊपर दिया जा चुका है।

२—मधुमेह में प्रमेह के सामान्य दूष्यों के अतिरिक्त ओज विशिष्ट दूष्य है। शरीरस्थ प्राकृत श्लेष्मा, जो आधा अंजलि प्रमाण में रहता है, को अपर ओज कहा गया है। इसी ओज की मधुमेह में दुष्टि होती है।

३—ओज या श्लेष्मा मधुर रस वाला बताया गया है, इसी के निकलने से मूत्र मधुर निकलता है।

४—अपर ओज का पर ओज से सम्बन्ध है। पर ओज का स्थान हृदय है जो कि चेतना का भी स्थान है। इसीलिए जब मधुमेह की गम्भीर अवस्था होती है तब बेहोशी भी आजाती है।

५—मधुमेह का रोगी स्थूल अथवा कृश भी हो सकता है।

६—प्रमेह के सभी भेद अन्त में मधुमेह में बदल जाते हैं।

७—मधुमेह में उदकवह स्रोतोमूल क्लोम की तथा मेदोवह स्रोतोमूल वपावहन की, विकृति हो जाती है।

८—जो प्रमेह जन्मजात हो तथा मधुमेह असाध्य होता है।

चिकित्सा—
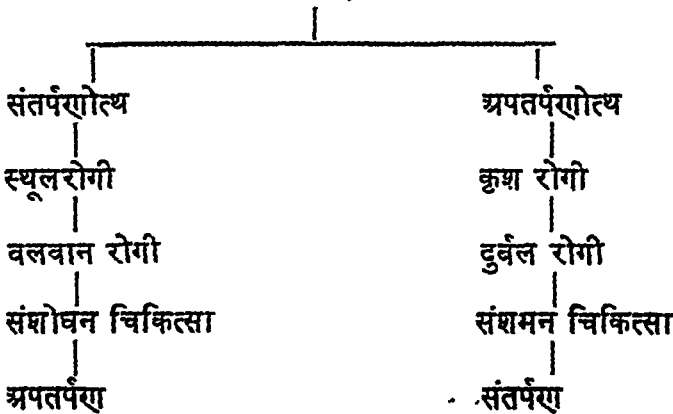
कफज प्रमेहों की चिकित्सा—

१. रोगी को वमन कराना चाहिए।

२. जौ से बने पदार्थों का मधु के साथ सेवन।

३. चरक ने १० कषाय योग लिखे हैं जो कफज मेह में लाभ दायक है। उनमें से मुख्य ये हैं—

(अ) अजवायन, खस, हरड़ और गिलोय का कषाय।

(आ) पाठा, मूर्वामूला और गोखरु का कषाय।

(इ) हरड़, कट्फल, मोथा और लोध्र का कषाय।

४. चन्द्रप्रभावटी सभी प्रमेहों में कार्य करती है।

५. लोध्रासव का प्रयोग करना चाहिए।

पैत्तिक प्रमेहों की चिकित्सा—

१. विरेचन कराना चाहिए।

२. चरक ने पैत्तिक प्रमेहों के लिए दस कषाय योग लिखे हैं; उनमें मुख्य ये हैं—

(अ) खस, मोथा, आंवला और हरड़ का कषाय।

(आ) खस, लोध्र अर्जुनत्वक् लाल चन्दन का कषाय।

(इ) शिरीषत्वक्, अर्जुनत्वक्, सर्जत्वक् तथा नागर केशर का कषाय।

३. चन्द्रप्रभा, शतावर्यादि क्वाथ, जम्वासव तथा वसंत कुसुमाकर का प्रयोग करना चाहिए ।

वातज प्रमेहों की चिकित्सा—

१. वातज प्रमेह में विशेषतः संशमन चिकित्सा की जानी चाहिए। असाध्य कहकर उन्हें छोड़ नहीं देना चाहिए ।

२. चन्द्रप्रभा, वसंत कुसुमाकर, त्रिवंगभस्म तथा सर्वतोभद्रवटी का प्रयोग करना चाहिए । मामज्जकघन वटी वड़ी लाभदायक है ।

प्रमेह पिड़िका चिकित्सा—

प्रमेह पिड़िकायें दस होती हैं ।

शराविका, कच्छपिका, जालिनी, विनता, अलजी मसूरिका, सर्षपिका, पुत्रिणी, विदारिका, विद्रधि—ये दस प्रमेह पिड़िकायें हैं। इनकी चिकित्सा व्रणोपचार की तरह करनी चाहिए। ये अति कष्ट दायक तथा दुःसाध्य होती हैं ।

पथ्य—कोद्रव, मुद्ग, कुलत्थ, यव, तिक्तशाक, जांगलमांस, लघुव्यायाम ।

अपथ्य—तैल, घृत, गुड़, शुक्त, मद्य, इक्षुरस, मिष्ठान्न, आनूप मांस, नवान्न, दिवास्वप्न, धूम्रपान, रक्तमोक्ष, मूत्रवेग धारण ।

———

वात विकार

वायु के ८० रोग या लक्षण बताये गए हैं । वायु के सभी विकारों में गत्यात्मक वैषम्य अधिक महत्वपूर्ण विकृति मानी जाती है । वायु के चल गुण के कम या अधिक हो जाने से ही प्रमुख वात रोग उत्पन्न होते हैं; यथा पक्षाघात, अर्दित, एकांग वात, सर्वांगवात आदि । जिन रोगों में चलगुण बढ़ता है (यथा—कम्प) उनमें वायु की वृद्धि समझें । जिनमें चल गुण का क्षय है उनमें कफ या आम के द्वारा वायु का आवृत होना समझें । सभी मुख्य वातरोगों में सिरा, स्नायु और मांस धातु की दुष्टि बताई गई है ।

अन्तरायाम रोग में—वायु मन्याओं में स्थित सिराओं में जाकर गर्दन को छाती की ओर झुका देता है; सारा शरीर अन्दर की ओर से धनुषवत् हो जाता है ।

बहिरायाम—रोग अन्तरायाम के विपरीत है ।

हनुस्तम्भ—में जबड़ा स्थान भ्रष्ट होता है; मुँह बंद नहीं हो पाता है ।

आक्षेपक—रोग में रोगी अपने हाथ पैर झटके से पटकता है ।

[illegible] रोग—में सारा शरीर डण्डे के समान स्तब्ध हो जाता है ।

एकांग रोग—में वायु आधे शरीर की सिराओं और स्नायुओं को सुखाकर एक पैर या एक हाथ को संकुचित कर देता है, साथ ही उस भाग में कुछ तोद और शूल भी होता है। यदि सभी हाथों और पैरों को संकुचित करदे तो उसे सर्वांग रोग कहते हैं।

पक्षवध—

प्रकुपित वायु शरीर के दक्षिण या वाम भाग को चेष्टाहीन कर देता है, शरीर में पीड़ा होती है और वाणी भी अस्पष्ट हो जाती है। इसी को पक्षाघात भी कहते हैं।

अर्दित—

प्रकुपित वायु एक ओर के आधे देह को आक्रांत करता है जिससे उधरका तथा कण्डरायें आदि सूख जाती हैं, रोगी के हाथ पैर संकुचित एवं क्रियाहीन हो जाते हैं; मुख, नासिका, भौंहें टेढ़े हो जाते हैं, वाणी अस्पष्ट हो जाती है और भोजन का पानी एक ओर से गिर जाता है कारण कि मुख का एक ओर का भाग कार्यहीन बन जाता है।

एकांग रोग, पक्षवध या पक्षाघात तथा अर्दित के लक्षणों में विशेष अन्तर नहीं है। उनके चिकित्सक वेद्य लक्षण समान हैं। सुश्रुत ने केवल आधे मुख की कार्य हानि को ही अर्दित कहा है, इस संदर्भ में सोचें तो स्पष्ट अन्तर भी कर सकते हैं। अष्टांगसंग्रह ने अर्दित को 'एकायामे' भी नाम दिया है। सभी वात रोगों की चिकित्सा भी समान ही है। इन रोगों में रस, रक्त, सिरा और स्नायु की प्रधान दुष्टि होती है। मांस पेशियों की स्थिति

तथा गति के लिए क्रमशः कण्डरा एवं स्नायु, रस एवं रक्त तथा वायु की आवश्यकता रहती है। वातदुष्टि के कारण तथा पूर्वोक्त रसरक्तादि की दुष्टि के कारण मांस पेशियाँ शिथिल एवं क्रियाहीन हो जाती हैं।

वात रोगों की चिकित्सा—

१. यदि वायु संसृष्ट [आवृत] न हो तो स्नेहन, स्वेदन कराना चाहिए। तदर्थ पंचकर्म विधि में पूर्वकर्मोपचार की तरह कार्य किया जाता है।

२. यदि आवरण से वायु अपना कार्य ठीक न कर पाता हो तो पंचकर्म से उपचार करना चाहिए और पश्चात् दीपन-पाचन एवं वात शामक योग देने चाहिए।

३. वाताक्रान्त भाग पर उपनाह, आलेप एवं अवगाहन कराना चाहिए।

४. निर्गुण्डी तैल, वलातैल, रास्नातैल, विषगर्भ तैल तथा पंचगुण तैल–इनमें से किसी एक तैल से मालिश करनी चाहिए।

५. योगराज गुग्गुलु, वातविध्वंसन रस, कैशोर गुग्गुलु, भल्लातकावलेह, महायोगराज गुग्गुलु में से किसी एक का प्रयोग कर सकते हैं।

६. भल्लातक, गुग्गुलु, रास्ना, लशुन, मल्ल तथा माष का जिन औषधों में योग हो उन्हें देना चाहिए।

७. रोगी को वलवर्धक आहार विहार कराने चाहिए।